Satyadeo Sah "Santrenu"
VILL. BELABADAN, P. O. PIPARA
(PURNEA).

ॐ शान्ति मंदिर

पूर्णाङ्क ४५ मई १९५४ वैशाख २०११ वर्ष ४ अङ्क ९

भेद का अङ्ग

सन्त धनी धरम दास जी

झरि लागै महलिया, गगन घहराय ॥ टेक ॥
खन गरजै खन बिजुली चमके, लहर उठै सोभा बरनि न जाय ॥
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनंद होइ साध नहाय।
खुली किवरिया मिटी अंधियरिया, धन सतगुरु जिन दिया है लीवाय ॥
धरम दास विनवै करजोरी, सत गुरु चरन मैं रहत समाय।

शान्ति--सन्देश

मई १९५४

सम्पादकीय ●

"७०"

बैशाख शुक्ल चतुर्दशी शान्ति-सन्देश के पाठकों के लिये एक महान पर्व का दिवस है क्योंकि इस दिन इस पत्र के संस्थापक श्री स्वामी मेंहींदास जी का इस भूतल पर आविर्भाव हुआ था। पूज्य स्वामी जी महाराज इस साल इस तिथि को ७० वर्ष के हो गये। इस अवसर हम उनके चरण कमलों में अपनी श्रद्धा निवेदित करते हुए परम पिता परमात्मा से उनके दीर्घ आयुष्य के लिये हृदय से प्रार्थना करते हैं।

इस शताब्दी में जब कि हाइड्रोजन बम का आविष्कार हो चुका है और मानवता जब त्राहि-त्राहि पुकार रही है, इस भय संत्रस्त मानवता को श्री मेंहीं दास जी के ऐसे महात्माओं के चरण कमलों की छाया में ही त्राण मिल सकता है। गत ५० वर्षों से स्वामी जी अपने उपदेशों के द्वारा मनुष्य को उसके यथार्थ रूप का ज्ञान कराने के लिये कटिबद्ध हैं। एटम बम तथा हाइड्रोजन बम ने प्रमाणित कर दिया कि संसार में जो सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु है उसे यदि वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा सम्बन्धित तथा सञ्चालित किया जाय तो वह इतना शक्तिशाली हो सकता है कि अल्पकाल में ही एक विशाल भूभाग को ध्वंस कर सकता है। स्वामी जी का भी यही उपदेश है कि मनुष्य के अभ्यन्तर में जो मनुष्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म है यदि उसे साधना के द्वारा सम्बन्धित एवं सञ्चालित किया जाय तो उससे विशाल कार्य सम्पन्न हो सकता है। आत्मा की सूक्ष्मता को जाने दीजिये सूक्ष्म मन के निरोध से ही मनुष्य अपना विकास कर सकता है। लेकिन जब तक मनुष्य के मन में शान्ति का प्रवेश नहीं होगा, उसका मन शुद्ध नहीं होगा तब तक राष्ट्र संघ की गोष्ठियों में बैठकर मनुष्य शान्ति का उपाय प्राप्त नहीं कर सकता है।

सन्तों की जन्म तिथि इसलिये नहीं होती कि उस अवसर पर उनके पार्थिव शरीर के आयु का हिसाब-किताब लगाया जाय। कबीर के उक्ति अनुसार यदि साधु के उम्र के विषय में चर्चा की जाय तो यह खोल का मोल करना होगा। अतः उन्होंने कहा है कि—

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ग्यान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥

तो सन्तों की जन्म तिथि के अवसर पर उनके ज्ञान की चर्चा करना ही उचित है। लगभग २० वर्ष की अवस्था में ही स्वामी जी को उस ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित हो गया जो सृष्टि के आरम्भ से ऋषियों मुनियों की परम्परा से चलता हुआ मध्य युगीन सन्तों कबीर, दादू, नानक आदि तक चला आया था। वह ज्ञान साधना प्रधान था। मन की सारी वृत्तियों को समेट कर, आचरण को पूर्ण शुद्ध बना कर उर्ध्व गति की कामना से नादानुसन्धान की प्रक्रिया से अपनी

स्थापित १९६१

वृत्तियों को अन्तर्मुखी बना कर उस परम पिता परमेश्वर का साक्षात्कार करने की साधना ही अत्यन्त प्राचीन—साधना है। स्वामी जी ने उपनिषदों तथा सन्त—वाणी के आधार पर दूर -दूर गांवों में जाकर समाज के पिछड़े हुए अशिक्षित वर्ग में इस प्रकार का प्रचार किया।

स्वामी जी के सम्पर्क में जो जन आते हैं उन्हें कबीर का निम्न लिखित साखी बार–बार स्मरण हो आता है:—

गांठी दामन बांधई, नहिं नारी सों नेह।
कह कबीर ता साध की, हम चरनन की खेह।

स्वामी जी का जीवन २४ घन्टे एक साधक का जीवन है। वे एक सर्वदा सतर्क रहते हुए अपनी साधना का सञ्चालन करते हैं तथा सत्सङ्गियों को भी पूर्ण साधक बनाने के लिये सर्वदा सचेष्ट रहते हैं।

स्वामी जी सन्त साहित्य के अपूर्व विद्वान हैं उन्होंने साधना के बल से सन्तों के वाणी के असली अर्थ का साक्षात्कार किया है। उन्होंने १४वें पूर्णियाँ साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा था—"सन्त साधना की युक्ति जानकर, साधन करते हुए तथा उसमें निरन्तर बढ़ते रह कर, रहस्य का ज्ञान अनुभूति के द्वारा प्राप्त होने पर सन्त वाणी का शुद्ध अर्थ बोध होना सम्भव है। भूगोल की पुस्तककी ज्ञान तथा भूमण्डल भ्रमण करने के व्यवहारिक ज्ञान—में अवश्य अन्तर होना चाहिए। इसी तरह सन्त–साहित्य का केवल साहित्य ज्ञान तथा सन्त साधना साधक के ज्ञान में अन्तर मानना चाहिए।"

स्वामी जी महाराज केवल अन्तर्साधना की बात नहीं करते हैं। यद्यपि उनका अधिक समय उसी साधना के प्रचार में व्यतीत होता है। वे देश की वर्तमान अवस्था से अत्यन्त दुःखी—है और वर्तमान अनैतिकता की चिकित्सा सन्त –साहित्य के प्रचार के द्वारा करना चाहते हैं। उन्होंने अपने भाषण में सन्त कबीर साहब के निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत करते हुए कहा—

छिमा गहो हो भाई, धर सतगुरु चरणो ध्यान रे॥
मिथ्या कपट तजो चतुराई, तजो जाति अभिमान रे।
दया दीनता समता धारो, हो जीवित मृतक समान रे।
सुरत निरत मन पवन एक करि, सुनो शब्द धुन तान रे॥
कहै कबीर, पहुंचो सत लोका, जहाँ रहै पुरुष अमान रे।

"इस अमृतमय शब्द को समझ कर इसमें निहित सदुपदेशों के अनुकूल यदि लोग आचरण करें तो वे झूठ, चोरी, चोरबाजारी, घूसखोरी, घृणित स्वार्थ, पर–पीड़न, धूर्तता, और कपट आदि जो सुराज्य के परम बाधक हैं और जनता के परम दुःखदाई हैं, सब को छोड़ देंगे। देश में सुराज्य होगा, जनता सुखी हो जायगी और साथ ही साथ मोक्ष धर्म साधन में जनता लग जायगी, जिससे उनका परम कल्याण होगा।

स्वामी जी महाराज हिन्दुस्तान, हिन्दू और हिन्दी शब्दों को हटा कर भारत, भारतीय और भारती शब्दों का प्रयोग करते हैं तथा इनका प्रयोग कर प्रचार करते हैं। अपने प्रवचनों तथा वार्त्तालाप में अंग्रेजी आदि विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग नहीं करते हैं। यदि कोई सत्सङ्गी सामने अपने वार्त्तालाप में आंग्ल-भाषा के शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसे आप तत्काल सावधान कर

(शेष पृष्ठ १० पर

सन्तों की नाद-साधना

● श्री राम कृष्ण प्रसाद मिश्र, एम० ए० ●

हद और वेहद के सन्धिकाल में जब अनाहद संगति-सुषमा की मधुरिमा में कबीर की धारा डूबने लगी— तो उनकी आत्मा से गति के इन दो चरणों की उत्पत्ति हुई—

"घुंघट के पट खोल रे तोहे पिया मिलेंगे।

+ + + +

अनहद बाजत ढोल रे तोहे पिया मिलेंगे।"

सूरदास का अनुभव भी कबीर की परम्परा को पुण्य करता हुआ अपनी बैचनी में तड़प उठा —

मुरली धुन गाजा, सुर सुरत सर साजा

निरखत केवल नैन नभ ऊपर शब्द अनाहद बाजा।

और महा काव्यत्व की गरिमा का बोझ ढोते ढोते जब तुलसीदास थकान का अनुभव करने लगे तो उन्हें वरवस कहना पड़ा—

घन घमंड गरजहिं नभ घोरा।

प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥

शब्द, नाद, और नाम एक ऐसी पद्धति है जिसके खाश अर्थ हैं। सभी महात्माओं की वाणियों में आया है कि मुक्ति नाम से मिलती है। इस नाम अथवा शब्द की साधना भी गुरु कृपा के ऊपर ही अवलम्बित है। इसे समझने के लिए किसी नाम के रसिया या भेदी के पास जाना ही पड़ेगा— वर्ना अनाहद-सुषमा की मादकता दुर्लभ ही है।

गुरुबानि में नाम की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

'नाम के धारे खण्ड ब्रह्माण्ड।'

नाम वह शक्ति है जो खण्ड ब्रह्माण्डों को धारण किये हुए है।

'नामे ही ते सब जग होया।'

नाम ही से सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई। स्पष्टतः नाम अथवा नाद एक शक्ति है— केवल अक्षर मात्र नहीं।

'नानक सब कुछ नामें के वस है।'

नानक जी ने नाम की इतनी सशक्त व्याख्या की है।

अब प्रश्न उठता है कि यह नाम अथवा नाद की साधना का तात्पर्य क्या है?

उत्तर में उपलब्ध है—

'अदृष्ट अगोचर नाम अपारा।'

नाम दृष्टि का विषय नहीं वह मन और इन्द्रियों से ऊपर का विषय है। तुलसी दास ने तो इसकी व्यापकता प्रदर्शित करते हुए कहा—

'राम न सकहिं नाम गुण गाई।

'राम नाम मणिदीप धरु, जीह देहरी द्वार।

तुलसी बाहर भीतरो जो चाहरु उजियार॥'

आत्मा का विमल प्रकाश घट-घट में व्याप्त है। पान मुंह में रख कर आदमी हर वक्त उसे चबाता रहता है। पान चबाने की उपमा हर क्षण नाम स्मरण से भी है। अन्दर में, ब्रह्माण्ड में, नाद साधना की कई सीढ़ियों से साधक

को ऊपर के मंडलों के रास्ते को तय करना पड़ता है। सहस्र दल कमल पर घंटा नाद, बक नाल में शंख ध्वनि, त्रकी मुकाम में नगाड़े की ध्वनि, पखावज ढोल मृदङ्ग की ध्वनि, किंगरी, सारंगी और सितार की ध्वनि। भंवर गुफा स्थान में वंशी की ध्वनि और मुकाम सत्य लोक में तो छ राग और छत्तीस रागिनी और दसो प्रकार के नाद बजते रहते हैं।

जैसे अन्धेरे में दूर की आवाज को सुन कर हम उस ओर कदम बढ़ाते हैं उसी प्रकार सुरत; अज्ञानान्धकार में डूबी हुई सुरत, मन इन्द्रियों के घाट पर बैठी आत्मा जब ऊपर के मंडलों को पार करने के लिये लालायित हो उठती है तो शब्द की इसी डोर के सहारे सुरत प्रकाश के उन अमर लोकों में विचरण करती है—जहाँ निस्सीम की गोद में ससीम प्यार की थपकी पाकर समाधिस्थ हो जाता है।

यही नाम चारों युगों से उद्धार करता आ रहा है। इसे श्रुति, मार्ग उर्द्ध गति और नाद, मुसलमानों में कल्मा और ईसाईयों में Word के नाम से बयान किया गया है।

बाइबल में आया है--

'Word was in the beginning, word was with God & word was God.'

सन्तों ने इसे नाम और शब्द कह कर बयान किया है।

नानक जी फर्माते हैं--

शब्दे धरती शब्द आकाश,
शब्दे शब्द हुआ परकाश।
सगली सृष्टि शब्द के पाछे,
नानक शब्द घटो घट आछे।

इस नाम की ध्वनि निरन्तर अपने ही आप स्वतः हो रही है। मालिक जार बेजार होकर वासनान्धकार में बैठी आत्मा को पुकार रहा है—काम केवल इतना ही है कि उलट कर, सांसारिक वासनाओं से करवट बदल कर उसमें खो जाना है। सुखमनी साहब लिखते हैं--

'नौ निध अमृत प्रभु का नाम
देहि में तिसका बिसराम।'

नौ निधियों, नौ प्रकार की खुशियों और अमर जीवन को देने वाला जो प्रभु का नाम है वह हमारे अन्दर अर्थात इसी देह में है।

सूर दास जी ने भी कहा—

अपुन पौ आपुन ही में पायो।
शब्द हो शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो।'

नानक जी से भी किसी ने पूछा कि वह नाम मिलता है कैसे? उत्तर में उन्होंने कहा--

"इस काया नगरी अन्दर मंगन चढ़े,
तां नाम पल्ले पाई।"

तात्पर्य यह है कि साधक अगर देह रूपी नगरी के अन्दर, छः चक्रों के ऊपर आ जाय तो नाम की धारा में अपने जीवन के रिक्त पात्र को भर सकता है।

यह नाम सन्तों का शृंगार है। साथ ही नाम के प्राकट्य से प्रभु-प्राकथ्य की आस्था और चेतना इतनी बलवती हो जाती है कि हम सहसा पतनोन्मुखी वृत्ति पर नियंत्रण पा लेते हैं--क्योंकि बिना भय के मालिक का प्यार स्थायी नहीं होता है।

कंगन वस्त्र गहने बने सुहावे।

धन सब सुख पावे जां पिर घर आवे।

कहने का अभिप्राय यह है कि अब मैं इस शरीर घर की रानी हूँ। अब मेरे हाथों में कंगन और वस्त्र देह पर वस्त्र भी शोभा देते है क्योंकि मेरा मालिक घर में आ गया है, यानी अन्दर प्रगट हो गया है। अब सुख ही सुख और आनन्द ही आनन्द है। मालिक के प्रत्यक्ष होने पर इन्द्रियां अब विषयों की ओर मुझे नहीं ले जा पाती हैं। ऊपर के दो चरण में साधक सन्त को कितना Positive assertion है कि मुझे यह गति मिल गई।

गायत्री मंत्र में भी तो नाम का ही जिक्र है—
ओं भू भुर्वः स्वः तत्सवितुरवरेण्यम्.........

हे परमात्मा अन्दर जो सूरज है हमारी वृत्तियों को उसी ओर उन्मुख कर दे। गायत्री मंत्र इसलिये पवित्र और स्थायी है कि इसमें वास्तविकता की अभिव्यक्ति की गई है। मगर वह गति जिसका इस मंत्र में जिक्र है केवल पढ़ने मात्रसे ही नहीं उपलब्ध होता। मन्त्र पाठ से अभिरुचि अवश्य पैदा होगी पर लक्ष्य नहीं पाया जा सकता। यह तो तभी सम्भव है जब—

"दस इन्द्री जो राखे वास,
ताके आतम् होय परकाश।"

तब कहीं इस शरीर रूपी घर में मन इन्द्रियों से ऊपर पिंड, अंड, ब्रह्माण्ड के पार जो रूह का असली घर है वहां पहुंचाने वाला सतगुरु का सम्पर्क प्रस्थापित करना चाहिये। सद्गुरु अन्दर में शब्द को निसानी देकर पांच शब्दों की ध्वनि के मार्ग से ऊपर के मण्डलों में प्रेषित करता है—

'पंच शब्द धुनकार धुन बाजे शब्द निसान्।

यह अवस्था गुरु की दया से प्राप्त होती है। यह लाभ किसी जाग्रत पुरुष के सङ्ग से मिलता है जो मन इन्द्रियों से अलग होकर स्वयं भी उस लक्ष्य को प्राप्त हो गया है।

और यह तभी सम्मभव है जब—

'सर्व चिन्तां समुत्सृज्य सर्व चेष्टा विवर्जितः
नाद मेवानु संध्यान्नादे चित्तं विलीयते।
नादा सक्तं सदा चित्तं विषयं नहि कांक्षति॥

तभी तो कबीर कहते हैं—

जो जन बिरही नाम के ताकी यह गति होय।
देहि से उधम करै सुमिरण करै विदेह।

और इसीलिए कबीर अपनी सुरत सुहागिन से मनुहार करते हुए कहते हैं—

जाग री मेरी सुरत सुहागिन जागरी।
क्या तूं सोवत मोह नींद में,
उठ के भजनियां में लाग री।
चित्त कर शब्द सुनै श्रवनन दे,
उठत मधुर धुन राग री।
दोऊ कर जोर शसि चरणन दे,
अचल भक्ति वर मांग री।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
जगत पीठ दै भाग री।

सबसे बड़ी नसीहत तो इन सन्तों की 'जगत पीठ दै भागरी' ही रही। जगत से पीठ देने का तात्पर्य कर्म से उदासीनता नहीं समझी जानी चाहिये, प्रत्युत मन के अन्दर विषय वासनाओं का जो संसार भरा पड़ा है--उसके बिपरीत चलकर ही अनाहद की सङ्गति सुषमा में आत्मा का निम्मज्जन और प्रकाश की जाह्नवी में अन्दर के तम का विसर्जन किया जा सकता है।●

संत गोरखनाथ की साधना में मन की महत्ता

● प्रोफेसर राघव प्रसाद पाण्डेय (एम० ए० हिन्दी संस्कृत) ●

भारतीय संत साधकों में संत गोरखनाथ का व्यक्तित्व विलक्षण है, तेजोमय है, सहज है, और है महिमामंडित। सचमुच, शंकराचार्य के बाद इतना प्रभाव शाली व्यक्ति, भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। इस महान् धर्मगुरु ने साधना के जिस पथ को आलोकित किया उसपर चलने वालों की संख्या आज भी कम नहीं है। काया-योग के अनेक उटपटाँग साधनों में सुन्दर सामंजस्य समुपस्थित करके इन्होंने मन को सबसे अधिक प्रधान कहा है। शरीर को तपाने वाली विभिन्न क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य मन को सुस्थिर करना ही है। प्रायः सभी साधक इसे स्वीकार करते हैं। कबीर ने भी कहा था—

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
कह कबीर पिऊ पाइए, मन ही की परतीत ।।

और संस्कृत के बड़े-बड़े ग्रन्थ भी एक स्वर से यही पुकारते हैं कि "मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः।" तो मन की यह प्रधानता गोरखनाथ से कैसे छिपी रह सकती थी, कैसे वे केवल योगियों के बाह्य स्वरूप को सब कुछ मान सकते थे। स्त्री के मर जाने पर योगियों का बाना लेने वाले, दौड़ धूप करके भोजन के इच्छुक, सती (साधु) कहाने वाले, धन समाप्त होने पर त्यागी बनने वाले अभागों को वे खूब पहचानते थे।

रांड़ मुवा जती, धाये भोजन सती,
गये धन त्यागी नाथ कहैं ये तीनों अभागी।

इसलिए मन पर नियंत्रण रखने वाला ही सच्चा साधक है। यह मन भी विचित्र है, योगियों और वैरागियों को भी कम नहीं भटकाता! सूक्ष्म आहार करते हैं इसे वश में करने के लिए, यहाँ तक कि दूध ही पीकर जीते हैं, बस चलो मन को भटकने के लिए आधार मिल जाता है और यह नटखट दूध ही में उलझ जाता है। नागा है, कोई चिन्ता नहीं, लेकिन उनका मन भी शरीर को गरम रखने वाली लकड़ी में फँसा रहता है, और मौनी की भी विचित्र हालत है, उसका भी मन एक साथी खोजता रहता है जो उसके संकेतों को व्यक्त करता रहे।

दूधाधारी पर धरि चित्त।
नागा लकड़ी चाहै नित।
मौनी करै मंत्र की आस।

तो क्या इस शरीर को लोहे की जंजीरों में जकड़ दिया जाय, पांवड़ी ओढ़ कर, डंके की चोट यह सबको बतला दिया जाय कि, देखो दुनिया वालो अज्ञानियो! मैं संत हो गया, संत हो गया।

गोरख कहते हैं न, न, ऐसा करने से कुछ नहीं होगा । शरीर को बश में करने के बाह्य प्रयत्नों से योग सिद्धि सम्भव नहीं है । इससे तो शरीर नष्ट हो सकता है, पावड़ी में पैर के फँस जाने से अच्छी तरह गिरा जा सकता है । फलतः मन को भटकने के लिए छोड़नेवाले नागा, मौनी और पयाहारियों को योगसिद्धि नहीं मिलती ।

पावड़ियाँ पग फिसलै अवधू लोहैं छीजंत काया ।
नागा मूनी दुधाधारी, एता योग न पाया ।

तो क्या मन ही सब कुछ है ? एक इसके बिना क्या साधना के सब प्रश्न थोथे है ? हाँ, यही शिव है और यही शक्ति भी है । यही मन पंचतत्वों से निर्मित जीवन है । इस मन का अधिष्ठान भी शिव तत्व परंब्रह्म है माया (शक्ति) के संयोग से ही ब्रह्म मन के रुप में अभिव्यक्त होता है और इसी मन से पंचभौतिक शरीर की रचना होती है । इसी मन को लेकर उन्मनावस्था में लीन करने से साधक सर्वज्ञ हो जाता है और तीनों लोकों की बातें कह सकता है।

यहु मन सकती यहु मन सीव ।
यहु मन पाँच तत्त का जीव ॥
यहु मन ले जे उनमन रहे ।
तौ तीनि लोक की बातां कहै ॥

जंगल, पर्वतों की गुफा, आदि एकान्त स्थानों में न भटक कर मन में रहना चाहिए, मन में ही डेरा डालना चाहिए । बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना चाहिए । मन की बातें, मन की रहस्यात्मक अनुभूतियाँ व्यर्थ ही न लुटानी चाहिए क्योंकि इन्हें समझनेवाले कम हैं, सुनकर हँसी उड़ानेवालों की संख्या ही अधिक है । लेकिन हाँ मन के रहस्य को छिपाते समय कहीं अहंकार न प्रकट हो जाय इसका ध्यान रखना चाहिए । इसलिए सबसे अच्छा तरीका यही है कि मीठी वाणी बोलनी चाहिए यदि कोई इसपर भी आग बबूला हो जाय तो पानी हो जाना चाहिए, क्षमा दिखानी चाहिए। आखिर आग को शान्त करने के लिए पानी से बढ़कर और उपयुक्त साधन है ही क्या ?

मन मे रहिणां भेद न कहिणां,
बोलीबा अमृत बानी ।
आगिला अगनी होइबा अवधू,
तौ आपन होईबा पांणीं ।

मन को शुद्ध करो यदि यह शुद्ध है, यह कल्मष रहित है तो कठौती में ही गंगा है, गंगा की पवित्रता तुम्हारे पास है, गंगा में डुबकी नहीं भी लगाओगे तो कोई हर्ज नहीं, इस मन में गोते लगाकर तुम शुद्ध और पवित्र हो सकते हो । माया के बन्धनों में आबद्ध इस मन को यदि तुमने मायामुक्त कर दिया, तो बस समझ लो सारे विश्व को सर कर लिया, सभी तुम्हारे चेले हो गये। गोरख की दृष्टि से यही साधु का सच्चा स्वरूप है, इस तत्व को विचारने वाला स्वरूप और रेखा से रहित हो जाता है ।

अबधू मन चंगा तौ कठौती ही गंगा।
बांध्या मेल्या तौ जगत्र चेला ॥
बंदत गोरष सति सरुह ।
दत विचारैं ते रेष न रूप ॥

अतः ऐ शरीर धारियो! नाहक जीव-हत्या करते हो, अरे, हत्या करनी ही है, किसी को मारना ही है तो इस पाँच भौतिक मनमृग को क्यों नहीं मारते? देखते नहीं तुम्हारी थोड़ी सी असावधानी का फायदा उठाकर यह तुम्हारी बुद्धि की बाड़ी को ही चरता चला जा रहा है। तुक समझते ही नहीं कि योग का मूल ही दयादान है। यदि मुक्ति चाहते हो तो गोरख की बात कान खोलकर सुनो– इस द्रोही मन को मारो, इसे वश में करो, जानते नहीं, न इसके शरीर है, न माँस है न रक्त है और न है वर्ण।

जीव क्या हतिये रे प्यंडधारी।
मारिलै पंचभू म्रगला॥
चरै थारी बुधि बाड़ी।
जोग का मूल है दया–दाण॥
कथंत गोरष मुकुति लै मानवा।
मारि लै रै मन द्रोही॥
जाकै बर बरण मास नहीं लोही॥

बड़ी परेशानी है, ऐसे सूक्ष्म मन को वश में कैसे किया जाय, कैसे इसपर अंकुश रखा जाय। गोरखनाथ इसके लिए युक्ति बतलाते हैं। इसे मारने का सहज तरीका यह है कि इसे गुरु के ज्ञान-वाण से मारा जाय। गुरु द्वारा उपदिष्ट ज्ञान शर से देव और दानव को भी वश में करनेवाला यह मन मारा जा सकता है।

जिमि मन ग्रासे देव दाण।
सो मन मारिले गहि गुरु ग्यांन बाण॥

अर्जुन भी मन को वश में करने की बात से व्याकुल हो उठे थे। इसे बस में करना सचमुच टेढ़ीखीर है। वह मात्र चंचल तो है नहीं, प्रमाथि है शरीर और बुद्धि को मथनेवाला है, शक्तिशाली है, इसका निग्रह हवा के निग्रह के समान बड़ा ही कठिन है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥

और भगवान् श्री कृष्ण ने भी एक युक्ति बतलाई थी वह यह कि अभ्यास और वैराग्य से यह दुर्निग्रह चंचल मन पकड़ में आ जाता है—'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।" गोरखनाथ कहते हैं कि यह चंचल मन तो मानेगा नहीं, निरालंब तो यह रह नहीं सकता इसे सोचने विचारने के लिए कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है। या तो यह आशा के फन्दे में फँसा रहता है अथवा परम उदास यानी विरक्त रह सकता है। इस प्रकार इसके लिए स्पष्टतः दो मार्ग है, एक कामिनी की गोद यानी नाना सांसारिक वासनाओं की आशक्ति। दूसरा गुरु की ओट (शरण) मतलब गुरु के उपदेश से प्राप्त अनाशक्ति।

कै मन रहै आस पास।
कै मन रहै परम उदास॥
कै मन रहै गुरु कै ओले।
कै मन रहै कामिनी कै षोलै॥

जब उलझना इस मन का धर्म ही है तो इसे अच्छी तरह सत्कर्म में ही क्यों न उलझाया जाय। खाली तो इसे बैठना है नहीं, तब इसे दबाया क्यों न जाय? लेकिन इसे दबा भी

नहीं सकते, कुचलने से तो यह हठी और भी हठ पकड़ सकता है। तब, तब क्या किया जाय? इसे वस में करने के लिए, अग्नि का रहस्य जानना होगा, उसी ब्रह्माग्नि या योगाग्नि के अभ्यास की आवश्यकता होगी। तभी यह वश में होगा। यही क्यों, वह आदि से चली आनेवाली, जीवों को बन्धन में डालनेवाली, पुराण-संगिनी, बूढ़ी माया भी मुक्ति देने वाली गुरुवानी बन जायगी।

दावि न मारिबा, षालि न राखिबा,
जांनिबा अगनि का भेवं।
बूढ़ी हीं थै गुरुवानी होइगी
सति सति भाषंत श्री गोरष देवं॥

वस्तुतः माया के दो रूप प्रसिद्ध हैं। अविद्या रूप में वह जीव को बन्धन में डालती है और विद्या रूप में वही मोक्षदायनी हो जाती है। यहाँ इधर ही संकेत है, साधक गुरू के उपदेश को ग्रहण करके माया के इस दूसरे रूप को पहचान् सकता है और मन को भी सहज ही वश में कर सकता है। नाना संघर्षों में उलझा आज का मानव शान्ति के लिए भटक रहा है, किन्तु शान्ति तो मन के शान्त होने पर ही मिल सकती है, शान्ति के लिए तो मन को स्वस्थ बनाना होगा, मन में शान्ति लानी होगी मन को विषयों की आसक्ति से हटाना होगा। और यह सब होगा धीरे-धीरे नियम पूर्वक अभ्यास करने से। शायद इसीलिए निचोड़ रूप में गोरखनाथ ने स्पष्टतः यह कह दिया है कि मन की रक्षा ही योग है और मन का रक्षक ही योगी है।

"जोगी सो जे मन जोगवै।"

— × —

सम्पादकीय का शेषांश

देते हैं। इससे इनका मातृ भाषा का प्रेम प्रकट होता है।

पूर्णियाँ, संथालपरगना, भागलपुर तथा मुंगेर जिला स्वामी जी का कार्य क्षेत्र रहा है। उन्होंने कई हजार नर नारियों को दृष्टियोग तथा नादानुसन्धान की प्रक्रिया सिखलायी है। तथा इस ७० वर्ष की आयु में इस भीषण ग्रीष्म ऋतु में बैल गाड़ी की सवारी-करके ग्राम ग्राम में सन्त साधना का प्रचार आज भी कर रहे हैं। भगवान ऐसे सन्त को चिरायु बनावें।

भारतीय योग पद्धति

"मंत्रयोग"

● श्री साँवलिया बिहारी लाल वर्मा, एडवोकेट, एम० एल० सी० ●

"योग" शब्द का व्यवहार बहुत ही व्यापक अर्थ में किया जाता है और इसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है। मंत्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, कर्मयोग, बिन्दुयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सूरत शब्द योग, पूर्णयोग, इत्यादि-इत्यादि, इसके अन्तर्गत हैं। इनमें से प्रत्येक योग का भिन्न भिन्न आदर्श है जिसकी प्राप्ति उसके अनुकूल विशिष्ठ साधना का रहस्य महर्षि पतञ्जलि-कृत योगदर्शन में, महर्षि भारद्वाज-कृत कर्ममीमांसा-दर्शन में और मंत्रयोग संहिता, हठयोग संहिता, लययोग संहिता राजयोग संहिता तथा पुराणों में महाभारत शान्ति पर्व और तंत्रों में विस्तृत रुप से वर्णित है। इन विभिन्न योग साधनों की मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग चार अलग अलग शैलियां हैं। उनमें मंत्रयोग प्रथम है। इस लेख में मैं मत्रयोग के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालूंगा। इस योग के महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, बाल्मीकि, भृगु, वृहस्पति आदि आचार्य हुए हैं। आगे के लेख में क्रमशः हठयोग, लययोग और राजयोग पर प्रकाश डाला जायेगा।

मंत्रयोग का सिद्धान्त यह है कि परमात्मा से भाव, भाव से नामरूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रम के अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्ग से ही लय होगा, यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मा से भाव और भाव से नामरूप द्वारा जब सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव संसार बन्धन में आ गये हैं, तो यदि मुक्ति-लाभ करना हो तो प्रथम नामरूप का आश्रय लेकर नामरूप से भाव में और भाव से भावग्राही परमात्मा में चितवृति का लय होने पर ही मुक्ति होगी। इसलिए नारदादि महर्षियों ने नाम और रूप के अवलम्बन से साधन की विधियां बतलायी है, यही मंत्रयोग है। इसे जपयोग भी कहते हैं। वैदिक-युग में जपयोग का स्वरूप "स्वाध्याय" था। वेदाज्ञा है कि "स्वाध्याय" के विषय में प्रमाद न करो। दूसरी वेदाज्ञा है कि "स्वाध्याय" का अध्ययन करो। स्वाध्याय का अर्थ है वेदाध्ययन, गुरुमुख से वेदाध्ययन करके पीछे उसका परायण करना—वेद-मंत्रों का जप करना मुख्य तप था। बहुत काल तक ऐसा ही था। इस विषय में पृथक ग्रन्थ थे और उनमें जप के सम्बन्ध में नियम थे। रामायण काल में भी स्वाध्याय की यह परिपाटी थी। "तपःस्वाध्याय निरतम्" वाक्य बाल्मीकी रामायण के आरम्भ में आया है। श्री राम वनवास काल में यजुर्वेद का स्वाध्याय करते

थे, इसका स्पष्ट उल्लेख है। महाभारत के समय यह परिपाटी थी; किन्तु बाद में स्वाध्यायरूप जप उत्तरोत्तर घटता दिखाई देता है। इसके बाद महापरिवर्त्तन हुआ। बुद्ध-जैन काल के बाद यज्ञ-योगादि प्रायः लुप्त हो गये, भक्ति मार्ग बढ़ा, तीर्थ क्षेत्रों और देव मन्दिरों के उत्सव बढ़ने लगे, वैदिक मंत्र पिछड़ गये, पौराणिक मंत्र-तंत्र का देश में प्रचार हुआ। परिणाम यह हुआ–वैदिक स्वाध्याय के बदले वेदमंत्रों के स्थान पर गीता, सहस्रनामादिकों के पाठ, पौराणिक और तांत्रिक मंत्रों का जप और भगवन्नामस्मरण प्रतिष्ठित हुआ जो आज भी मान्य है।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में मंत्र-सिद्धि भी मानी है और यह कहा है कि इष्टमंत्र के जप से इष्टदेव के दर्शन होते हैं। प्रणव ओम्, मुख्य मंत्र है और उसके अर्थ की भावना करते हुए उसका जप करने से सिद्धि प्राप्त होती है। प्रणव जप का श्रेष्ठत्व भगवान मनु ने कथन किया है। कारण प्रणव वेदों का ही मूल है। श्रुति में भी प्रणव की महिमा गायी गई है। समस्त माण्डूक्य उपनिषद में इसकी महत्ता पर प्रकाश डाला गया है जो प्रणव मंत्र उपासकों के लिये पठनीय है। प्रणव के बाद बड़े महत्व का मंत्र गायत्री है। यह वैदिक मंत्र है और सबने इसकी महिमा गायी है। यह मंत्र सब सिद्धियों का देने वाला है।

इसके बाद भिन्न भिन्न देवताओं के मंत्र आते हैं और इन्हीं का आजकल विशेष प्रचार है। कारण, इनका उच्चारण सुगम है और तांत्रिक मंत्रों को छोड़ कर इन मंत्रों के अर्थ भी समझ में आता है। जब चाहें जहां भी जप किया जा सकता है।

अतः मंत्रजप या जपयोग सर्वमान्य है और केवल मंत्रजप से सब सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं और सर्वधर्मानुष्ठान का फल मिलता है। इस साधन में न कोई खर्च है और न कोई कठोर नियम है।

मंत्रयोग का नामस्मरण और मंत्रजप भिन्न भिन्न दो साधन हैं। नाम के केवल उच्चारण करने से नाम की पवित्रता के कारण फल तो अवश्य होता है परन्तु बहुत ऊंचा नहीं। पर नाम का यथार्थ स्मरण होने के लिए मानसिक क्रिया आवश्यक है। जिस किसी देवता का नाम हो, नाम लेते ही उस देवता का रूप मानस-चक्षु के सामने खड़ा हो जाना चाहिये, उसके गुण कर्मों का स्मरण होना चाहिये, उसके अपार दया-प्रेम से गदगद होकर उसके स्वरूप में मिलने की उत्कंठा होनी चाहिये। ऐसा नाम स्मरण श्रेष्ठ है। शास्त्रों और साधुसन्तों ने ऐसे ही नाम स्मरण की महिमा गायी है।

मंत्रयोग के साधकों का दसरित से बचना आवश्यक है। ये दसरित हैं—(१) निन्दा, (२) आसुरी प्रकृति वालों की प्रशंसा, (३) हरि-हर में भेद दृष्टि रखना अर्थात् ईश्वर के एक स्वरुप और नाम को दूसरे से निकृष्ट मानना, (४) वेदों पर विश्वास न रखना, (५) शास्त्रों पर अवि–श्वास, (६) गुरु पर अविश्वास, (७) नाम महिमा को असत् समझना, (८) नाम के भरोसे निषिद्ध कर्म करना अर्थात् यह भावना रखना कि जो निषिद्ध कर्म हम करेंगे वह नाम जप से क्षय

हो जायगा, (९) नाम के भरोसे विहित कर्म न करना और (१०) भगवन्नाम के साथ अन्य साधकों की तुलना करना। इन दस का परहेज रखा जाय तो नाम जप से शीघ्र परम सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

नाम-स्मरण के अलावा मंत्र जप कुछ और है। जपमंत्र का ही होना युक्त है। "रघुपति राघव राजा राम" इत्यादि धुनों का स्मरण या कीर्तन हो सकता है पर उसे जपयज्ञ कहना ठीक नहीं। मंत्रों की रचना विशिष्ट पद्धति से मंत्र शक्ति के विशेषज्ञ अनुभवी महात्माओं द्वारा की हुई होती है। उसका अर्थ गहन होता है और मंत्रशास्त्र के नियमों के अनुसार ही अक्षर जोड़ कर मंत्र बनाये जाते हैं और ये मंत्र परम्परा से जप के कारण सिद्ध और अमोघ लाभदायक हैं; ऐसे मंत्रों का साम्प्रदायिक रीति से अर्थात् साधक जिस सम्प्रदाय का हो उसी के अनुसार ग्रहण करके विशेष पद्धति से उनका जप करना चाहिए।

कुछ लोग किसी मंत्र का जप कुछ दिन करने के बाद कुछ लाभ होता न देख कर फिर उसे छोड़ देते हैं, तब कोई दूसरा मंत्र जपते हैं और इसी तरह नये नये मंत्रों का जाप जपते और निराश होते हैं। कुछ लोग कई मंत्र एक साथ जपते हैं। कुछ लोग माला जपने को ही मंत्र जप समझते हैं, और समझते हैं कि हमने इतनी संख्या जप किया। पर निष्ठा और उचित पद्धति के अभाव में फल नहीं के बराबर होता है। मंत्रजप में माला का महत्व अधिक नहीं है। स्मरण दिलाना और जप संख्या का मालूम होना ये ही दो मुख्य काम माला का है। मंत्र-योग के साधक को उचित है कि किसी अधिकारी पुरुष से मंत्र की दीक्षा लेकर जप करे। यदि कोई सन्त महात्मा प्राप्त न हो तो जिसने स्वयं दीक्षा विधि से मंत्र लिया हो और जपा हो उससे मंत्र लेने में कोई हर्ज नहीं है। गायत्री मंत्र दीक्षा विधि से ही लिया जाता है और उस विधि को व्रतबन्ध कहते हैं। शैव वैष्णवादि सम्प्रदायों में दीक्षा विधि चलती ही है। भगवान यदि एक ही हैं तो भी उनके अभिव्यक्त रूप तो भिन्न भिन्न हैं। अपनी अभिरूचि के अनुसार परन्तु शास्त्रविधि को बिना छोड़े किसी भी मार्ग का अवलम्बन करने से शीघ्र प्राप्ति होती है। दीक्षा विधि के लिये शुभ समय, शुभ स्थान और चित्त में उत्साह होने की बड़ी आवश्यकता है। मंत्र ले चुकने पर फिर एक दिन भी मंत्र जाप के बिना खाली न जाये।

जिन्हें सुविधा हो, वे किसी एकान्त पवित्र स्थान में जप करें। जिनको ऐसी सुविधा न हो, वे अपने घर में ही जप के लिये कोई रम्य स्थान बना लें और वहां देवताओं, तीर्थों और साधु-महात्माओं के चित्र रखें। उन्हें फूल-माला चढ़ावें धूप दें। यदि साधक यात्रा में हों अथवा रेलादि सवारी पर हो जहां एकान्त जप की सुविधा न मिले तो वह रेलादि पर भी जप कर सकता है। वातावरण का प्रभाव चित्त पर पड़ता है, परन्तु जहां विवशता हो वहां परिस्थति के अनुसार नित्य जप का सम्पादन करना उचित है।

सर्व प्रथम साधक को एकाग्रचित हो कर

अपने इष्टदेव का ध्यान करके गुरुमंत्र से सब उपचार उन्हें अर्पण करें। फिर स्तोत्र पाठादि करके आसन पर बैठें। आसन, पद्म, सिद्ध, स्वस्तिका, अपनी सुविधा के अनुसार कोई भी हो। दृष्टि को नासाग्र करके प्राणायाम करें। अनन्तर थोड़ी देर सावकाश पूरक और रेचक करें, इसके बाद माला हाथ में लेकर जप आरम्भ करे। मेरू-दण्ड को सीधा रखे। अपनी सुविधा देखकर जप संख्या निश्चित कर लें और रोज उतनी संख्या पूरी करें और वह जप अपने इष्टदेव को अर्पण करें। इसके पश्चात् किसी सद्ग्रन्थ के कुछ अंश का अध्ययन और मनन करें। अन्त में तीर्थ प्रसाद लेकर उठे। इस क्रम से श्रद्धा पूर्वक कोई साधना करे तो वह कृतार्थ हो जायेगा। उसका चित आनन्द से भर जायगा और इस प्रकार साधना पथ पर अग्रसर हो कर अन्त में सिद्धि प्राप्त करेगा।

योग के ग्रन्थों में चन्द्र की सोलह कलाओं की तरह मंत्रयोग भी सोलह अंगों से पूर्ण है। ये सोलह अंग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन पञ्चाङ्ग सेवन, आचार, धारणा, दिव्य-देशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, योग, जप ध्यान और समाधि। अनेक शास्त्रों में इन सोलह अंगों का बिस्तृत वर्णन पाया जाता है। भक्ति का विस्तार तो सभी भक्तिशास्त्रों में पाया जाता है शुद्धि के अनेक भेद हैं। यथा—किस दिशा में मुख करके साधन करना चाहिए, यह दिक शुद्धि है; कैसे स्थान में बैठकर साधन करना चाहिए, यह स्थान शुद्धि है, स्नानादि द्वारा शरीर शुद्धि और प्राणयामादि द्वारा मनः शुद्धि होती है। कैसे आसन पर बैठना चाहिए—जैसे मृगचमसिन, कुशासनादि यह आसन शुद्धि है, अपने इष्ट की गीता, सहस्त्रनाम, स्तव, कवच और हृदय—ये पांचों पञ्चाङ्ग कहाते हैं। आचार के तंत्र और पुराणों में अनेक भेद कहे गये हैं। मनको बाहर मूर्ति आदि में लगाने से अथवा शरीर के भीतर स्थान विशेषों में मन के स्थिर रखने को धारणा कहते हैं। जिस स्थान में पीठ बनाकर पूजा की जाती है, उसको दिव्य देश सेवन कहते हैं। मंत्रशास्त्रों में प्रणायामों के अतिरिक्त शरीर को नाना स्थानों में प्राण को ले जाकर साधन करने को आज्ञा है। ये सब साधन प्राता क्रिया कहलाते हैं। मंत्रयोग में अपने इष्ट देव के प्रसन्न करने की जो चेष्टाएँ हैं, वे मुद्रा कहाती हैं। पदार्थ विशेष द्वारा इष्टदेव का तर्पण किया जाता है। अग्नि में आहुति देने को हवन कहते हैं बलि तीन प्रकार की होती है—यथा आत्मबलि अहंकारादि को, इन्द्रियों की बलि जैसे काम-क्रोधादि को। ये सब बलि अन्तरबलि है। बहिर्बलि फलादि की और राजसिक-तामसिक बलि पशु की होती है, अन्तरभाग और बहिरभाग भेदों से योग दो प्रकार का होता है। अपने इष्ट के नाम के जप को जप कहते हैं। जप भी वाचनिक उपांशु और मानसिक भेद से तीन प्रकार का होता है, इष्ट के रुप के ध्यान को मन के द्वारा करने से जो साधन होता है, उसको ध्यान कहते हैं। इष्ट के रुप का ध्यान करते-करते अपने को भूल जाने से जो एक अवस्था होती है, उसे मंत्रयोग में "महाबाध समाधि" कहते हैं और यही मंत्रयोग समाधि है। इसकी साधना निरंतर मंत्रजप से होती है। ●

सत्सङ्ग योग में संग्रहीत सन्तवाणी का अर्थ ●

गोस्वामी श्री तुलसी दास जी महाराज की वाणी

● व्याख्याकार– स्वामी श्री मेंहीं दास जी महाराज ●

मूल पद्य –

ऐसी आरती राम की करहि मन।
हरण दुख द्वन्द्व गोविन्द आनन्द धन ॥१॥
अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा,
बसत इति बासना धूप दीजै।
दीप निज बोध गत क्रोध मद मोह तम,
प्रौढ़ अभिमान चित्त वृत्ति छीजै ॥२॥
भाव अतिसय विसद प्रवर नैवेद्य शुभ,
श्री रमन परम सन्तोषकारी।
प्रेम ताम्बूल गत सूल संशय सकल,
विपुल भव बासना बीज हारी ॥३॥
असुभ शुभ कर्म घृत पूर्न दस वर्तिका,
त्याग पावक सतोगुन प्रकासं।
भक्ति वैराग्य विज्ञान दीपावली,
अर्पि नीरञ्जनं जग निवासं ॥४॥
विमल हृदि भवन कृत सान्ति परजङ्क सुभ,
सयन विस्राम श्री राम राया।
छमा करुना प्रमुख तत्र परिचारिका,
यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया ॥५॥
आरती निरत सनकादि स्रुति सेष सिव,
देव रिषि अखिल मुनि तत्वदरसी।
जो करइ सो तरइ परिहरइ काम सब,
बदत इति अमल मति दास तुलसी ॥६॥

शब्दार्थ--गोविन्द=ज्ञानसिन्धु (मानस कोष)। अचर=स्थावर=नहीं चलने वाला, जैसे वृक्षादि। चर = जङ्गम = चलने वाला, जैसे मनुष्यादि। गत=लीन=तन्मय, निमग्न। निजबोध=आत्म ज्ञान। विसद=विशुद्ध। प्रवर=उत्तम। हारी= हरने वाला। नीराञ्जनं=आरती।

पद्यार्थ--हे मन! दुःख और कलह के हरने वाले, ज्ञान-सिंधु और आनन्द पुंज राम की आरती इस तरह कर ॥१॥ स्थावर, जङ्गम स्वरूप राम के हैं और वह सब में लीन हैं-सर्वव्यापी हैं, इसी इच्छा का धूप दीजिये। आत्मज्ञान का दीपक दीजिये, जिससे क्रोध, मस्ती और अज्ञान अन्धकार नष्ट होकर बढ़ा हुआ अभिमान और चित्त की चंचलता नाश होती है ॥२॥ अत्यन्त शुद्ध प्रेम का उत्तम और शुभ नैवेद्य और प्रेम ही का पान भोग लगाइये, जिनसे लक्ष्मी पति परम सन्तुष्ट होते हैं, सम्पूर्ण कष्ट और सन्देह दूर होते हैं और जो संसार के बीज, बहुत सी इच्छाओं को हरने वाले है ॥३॥ भक्ति, वैराग्य और विज्ञान के दीयों में शुभ अशुभ कर्म रूपी घी से भरी हुई दस बत्तियों को त्याग की अग्नि से लेस कर सतोगुण को प्रकाशवाली आरती राम को अर्पण कीजिये ॥४॥ पवित्र हृदय भवन में शान्ति के सुन्दर पलंग पर आराम करने

के लिये श्री राम राय को सोलाइये। वहां राम की सेवा के लिये क्षमा और दया मुख्य-मुख्य दासियों को रखिये। जहाँ राम (उपरोक्त रीति से) रहेंगे वहां द्वैत उत्पन्न करने वाली माया नहीं रहेगी ॥५॥ इस आरती में सनकादि, वेद, शेष, शिव, नारद और सार पदार्थ (निर्मोया) के दर्शन करने वाले समस्त मुनिगण विशेष रूप से रत रहते हैं। सब इच्छाओं को छोड़ कर जो इस प्रकार आरती करेगा वह मुक्त होगा। हे तुलसी दास! निर्मल बुद्धि वाले ऐसा कहते हैं ॥६॥

भावार्थ—जो भवसागर से पार होना चाहे, उसे चाहिये कि राम को सम्पूर्ण रीति से सन्तुष्ट करने के हेतु उन्हें अपने अन्तर की शान्ति के पलंग पर प्रत्यक्ष पाने के लिये (१) उन्हें (राम को) सर्वरूपी और सर्व व्यापी दृढ़ता से जाने, (२) आत्मज्ञान प्राप्त करे; (३) राम से अत्यन्त प्रेम करे; (४) दसो इन्द्रियों की वृत्तियां वा चेतनधारें शुभाशुभ कर्मों से सराबोर रहती हैं; उन्हें विषयों से हँटा कर अर्थात् त्याग की अग्नि से दग्ध करके सतोगुण को धारण कर, भक्ति, विज्ञान और विज्ञान प्राप्त करे;

(५) क्षमा और दया को धारण करें।

(६) सब इच्छाओं को त्याग दे।

विचार – गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज इसी कलि काल में थे। जब कि वह अपने मन को उपरोक्त रीति से राम की आरती करने कहते हैं; और जब कि वे यह भी कहते हैं कि, जो कोई (अर्थात् कोई भी मनुष्य) इस प्रकार राम की आरती करेगा वह तर जायगा अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेगा। तब गो० जी महाराज के विचारानुसार कलियुग में भी राम की योगाभ्यास से होने वाली ऐसी आध्यात्मिक आरती होती है और होगी। जो कोई इसे करने चाहेगा, करने में लग जायगा, वह कर लेगा। स्त्री, शूद्र, चाण्डालादि गृहस्थ, विरक्त सबके सब इस आरती के करने के अधिकारी हैं। राम को सर्वगत कह कर उनके निर्गुण स्वरूप का, और उन्हें चर-अचर रूप कह कर उनके सगुण स्वरूप का वर्णन कर, उनके इन दोनों स्वरूपों में रत रहने को कहा गया है। निर्गुण सर्वव्यापी स्वरूप राम का अरूप इन्द्रियों से नहीं जानने योग्य, मूल, सनातन और सहज स्वरूप वा निजस्वरूप है; और सगुण स्वरूप उनका, कारणवश प्रगट होने वाला, अगुण से पीछे का रूप मान, स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों से इन्द्रियों से जानने योग्य भी और उनसे नहीं जानने योग्य भी, माया या छल स्वरूप है। (रामचरित मानस सार सटीक† चौ०सं० १६८ को और दो० सं० ११३ को अर्थ और लिखित विचारों सहित पढ़िये। निर्गुण स्वरूप में और सगुण के सूक्ष्म से सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूपों में, उनकी निसवत केवल पढ़ सुन और विचार कर रत होना केवल कठिन साध्य ही नहीं बल्कि असम्भव है। (देखिये विनय पत्रिका सार सटीक† पद्य ७) जब चेतन वृत्ति वा सुरत का पसार स्थूल शरीर में रहकर स्थूल इन्द्रियों के द्वारा काम करता रहता है, तब स्थूल सगुण में रत होना सम्भव होता है;

† यह पुस्तक श्री स्वामी मेंहीं दास जी महाराज द्वारा संग्रहीत एवं अर्थ कृत है। ——प्रेषक।

इसी तरह जब सूक्ष्म भक्ति के साधन से सुरत को स्थूल शरीर से समेट कर और सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा काम करना छोड़कर जब केवल सूक्ष्म ही शरीर में उसका पसार रहेगा और स्थूल विहीन केवल सूक्ष्म शरीर से ही कर्म करना सम्भव होगा तब, सूक्ष्म सगुण में और इसी भाँति जब सूक्ष्म से भी सिमिट कर आगे बढ़कर केवल कारण ही शरीर में सुरत का पसार रहेगा और उसके द्वारा कर्म किया जा सकेगा तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म सगुण में रत होते हुए, फिर कारण से भी सिमिट कर सुरत वा चैतन्य वृत्ति को आत्म स्वरूप में लय कर निर्गुण स्वरूप में रत होना अत्यन्त सम्भव है। राम चरित मानस सार सटीक में वर्णित नवधा भक्ति, राम की इस प्रकार की आरती करने का, वा उसके सगुण और निर्गुण स्वरूपों में रत होने का और आत्म ज्ञान प्राप्त करने का, साधन है। सगुण राम की उपासना के बाद आत्म ज्ञान प्राप्त होता है। इसके प्राप्त होने पर राम का निर्गुण स्वरूप में रत होना बाकी नहीं रहता! भक्ति के साधन का अन्त निजरूप वा आत्म स्वरूप वा निर्गुण राम में रत होने तक ही है। (देखिये विनय पत्रिका सार सटीक पद्य ६) ध्यान, उपासना, आरती, पूजन, भजन और भक्ति का प्राण प्रेम है। राम के प्रति प्रेम बिना ये निःसार और निरर्थक हैं। जिस महल में राम से मिलाप होता है, उसमें केवल राम के प्रेमी ही अपना शीश उतार कर, अर्थात अहङ्कार को सम्पूर्ण गँवा कर जा सकते हैं। प्रेमी जिससे प्रेम करता है उसके बिना उसको रहा नहीं जाता। सच्चा प्रेमी जिससे प्रेम करता है उसकी ओर एक टक देखता है और चाहता है कि वह भी उसको देखे। वह अपने प्रेम पात्र के पास चल पड़ता है और सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओं को और सम्पूर्ण विपत्तियों को झेलते हुए, कठिन से कठिन मार्ग को पार कर उससे जा मिलता है। सन्त कबीर साहब प्रेम का कितना उत्तम वर्णन, निम्न लिखित शब्द में करते हैं:--

प्रेम सखी तुम करो विचार।
बहुरि न आना यहि संसार ॥१॥
जो तोहि प्रेम खेलनवां चाव।
शीश उतार महल में आव ॥२॥
प्रेम खेलनवां यही विशेष।
मैं तोहि देखूं तू मोहि देख ॥३॥
प्रेम खेलनवां यही स्वभाव।
तू चलि आव कि मोहि बुलाव ॥४॥
खेलत प्रेम बहुत पचिहारी।
जो खेलिहैं सो जग से न्यारी ॥५॥
कहै कबीरा प्रेम समान।
प्रेम समान और नहिं आन ॥६॥

जिस महल में राम से मिल सकते हैं, वह महल अपना ही शरीर है (विनय पत्रिका सार सटीक पद्य १२ में देखिये)। अपने शरीर के अन्तर के तहों में अपनी दृष्टि से देखे बिना, राम को देख नहीं सकते। इस प्रकार देखने के साधन को ही दृष्टि साधन वा दृष्टि योग कहते हैं। इस साधन का विवरण राम चरित मानस सार सटीक की चौ० ५ को अर्थ और लिखित विचारों के सहित पढ़ कर जानिये। वर्णात्मक नाम को अत्यन्त एकाग्रता और प्रेम से

जपना, राम को अपने पास बुलाना है। पर याद रहे कि इस प्रकार बोल कर राम को केवल स्थूल सगुण रूप में ही पा सकते हैं। उनके सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और निर्गुण रूपों से मिलने केलिये प्रथम कथित रीति से चेतन वृत्ति को समेटते हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में राम के स्थूल और सूक्ष्मातिसूक्ष्म वा कारण रूपों से मिलते हुए तीनों शरीरों से टप कर राम के निर्गुण स्वरूप से मिलना सम्भव है। और राम के स्थूल सगुण स्वरूपों से मानस ध्यान के द्वारा मनाकाश में मिल सकते हैं यह भी अपने शरीर में सिमटना वा अपने अन्तर में राम की ओर जाना ही हुआ। अतएव अपने शरीर में यात्रा करनी राम की ओर चलना है। राम का सच्चा प्रेमी इस यात्रा का यात्री वा अन्तर पथ का पथिक अवश्य ही होता है। भक्ति साधन का परम रहस्य यही है। इसी रहस्य को लक्ष्य करते हुए गो० तु० दास जी महाराज ने विनय प० सा० स० में पद्य १० को गाया है। दृष्टि योग की सुगम रीति से सुषुम्न बिन्दु पर युगल दृष्टि धारों को मिलाने से इन्द्रियों की वृत्तियाँ शुभाशुभ कर्मों से शराबोर नहीं रहती हैं। विषयों से हंट जाती हैं, और रजोगुण वाहिनी इड़ा और तमोगुण वाहिनी पिंगला से भी हँट कर सतोगुण वाहिनी सुषुम्न के बिन्दु पर मिल, उससे दृढ़ता से धरती है तो सतोगुण के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं। जैसे किसी चीज को एक ही साथ दोनों हाथों से अत्यन्त बल पूर्वक पकड़ने पर सारे शरीर का बल हाथों की पकड़ पर ही आ जाता है वैसे ही युगल दृष्टि से बिन्दु को जकड़ कर पकड़ने से सब इन्द्रियों की चेतन वृत्तियाँ वा सुरत की धारें उस बिन्दु पर सिमिट कर मिल जाती है और एक हो जाती है। दसो इन्द्रियों के दीपों में सुरत की धारें ही दस बत्तियाँ हैं। इन्द्रियों में रह कर के ही यह उनके संग विषयों में बरत कर शुभाशुभ कर्म रूप घी से शराबोर रहती हैं और रज और तम गुणों में बरतती रहती हैं। सो सब इनका सिमटाव होकर उस बिन्दु पर जमाव होता है जो बाहर में नहीं है और जो किसी इन्द्री में वा इड़ा वा पिंगला में नहीं है तब सहज ही ये इन्द्रियों से, विषयों से और रज तम गुणों से हट जाती हैं, सतोगुण से प्रकाशित हो जाती हैं, और शुभाशुभ कर्म जलने लगते हैं। जिस चीज का सिमटाव होता है, उसको, जिस ओर से सिमटाव होता है उससे विपरीत ओर को, आगे बढ़ाते जाने का सिमटाव का स्वभाव है। इसी कारण पिण्ड वा स्थूल शरीर की ओर से सिमिट कर सुरत जब सुषुम्ण बिन्दु पर जम जाती है तो स्थूल शरीर की ओर से विरुद्ध ओर को अर्थात् सूक्ष्म शरीर की ओर को आगे बढ़ जाती है। और यह काम यदि उत्तरोत्तर (लगातार) जारी रक्खा जाय अर्थात प्रथम बिन्दु की सीध में के बिन्दुओं पर जहाँ जहाँ सुरत जाय, वहाँ वहाँ सिमटाव नहीं छोड़ा जाय तो सुरत वा चेतन वृत्ति की गति सूक्ष्म के सब मण्डलों से गुजरती हुई, सूक्ष्म सगुण के सब स्वरूपों से मिलती हुई, कारण मण्डल में पहुंच जायगी। यहाँ तक दृष्टि योग की गति है। पर यहीं तक काम समाप्त नहीं होता है। कारण से भी आगे राम के निर्गुण स्वरूप से मिलना है, जहाँ दृष्टि की गति नहीं है। वहाँ केवल निर्गुण

राम नाम के भजन से ही जाना सम्भव है। निर्गुण राम नाम की निसवत राम च० मा० सार सटीक की चौ० सं० ८० को अर्थ और लिखित विचारों के सहित पढ़िये। इसी निर्गुण राम नाम का भजन करना सुरत शब्द योग का सार है। इस शब्द को, दृष्टि योग सम्पूर्ण समाप्त करके भी सुरत पा सकती है और दृष्टि को केवल सुषुम्ण में ही थिर थाम्ह कर वहीं से अनहद ध्वनि के सहारे आगे बढ़ पा सकती है। पर इन दोनों हालतों में गुरू के संकेत की बड़ी आवश्यकता है। शब्द में सुरत को आकर्षण करने का स्वभाव है। शब्द अपने आकर्षण से सुरत को अपने उद्गम स्थान में खींच लाता है। निर्गुण राम नाम सुरत को राम के निज निर्गुण स्वरूप तक अपने महान आकर्षण से खींच कर पहुंचा देता है।

विचार का सारांश यह कि वर्णित आरती केवल विचार द्वारा वा राम का केवल स्थूल सगुण स्वरूप की उपासना से ही नहीं की जा सकेगी। यह कथित विचारानुसार वर्णात्मक नाम भजन, मानसध्यान, दृष्टि योग और सुरत शब्द योग द्वारा की जा सकेगी। गो० तु० दास जी महाराज ज्ञानी भक्त योगी सन्त थे, न कि केवल मोटी ही उपासना वाले भक्त।

—प्रेषक–श्री महावीर 'सन्त सेवी'।

अमूल्य उपदेश

चिन्तन बुरा नहीं है परन्तु चिन्ता बुरी चीज है। चिन्ता की तह में किसी न किसी तरह का भय छिपा रहता है, किसी न किसी अंश में परमात्मा के प्रति अविश्वास छिपा रहता है। ये दोनों बातें खराब हैं। जिसे परमात्मा पर पूरा विश्वास है वह चिन्ता के चक्कर में नहीं पड़ा करता। भविष्य की चिन्तन वह अवश्य करता है परन्तु भविष्य की चिन्ता के पीछे पागल नहीं बनता फिरता। सम्पत्ति हो कि विपत्ति हो, दोनों में अपना उदार भाव बनाये रहना और दोनों में ही परमात्मा के छिपे हाथ के दर्शन करने का प्रयत्न करना यही चिन्ता दूर करने की सबसे बड़ी दवा है। मन एक बार तो आस्तिक्य की आदत डालिये फिर देखियेगा कि चिन्ता आपको ओर झांक कर भी न देखेगी—सताना तो दूर ही रहा।

मनुष्य शरीर अद्भुत है।

● स्वामी श्री मेंहीं दास जी महाराज ●

मनुष्य का शरीर अद्भुत है। अज्ञानी लोग ख्याल करते हैं कि यह शरीर केवल मांस, हड्डी चर्म आदि का समूह है, परन्तु विशेषज्ञ जानते हैं कि इतना ही नहीं है। केवल स्थूल ज्ञान में रहने वाले जो जानते हैं वह तो प्रत्यक्ष है किन्तु इस प्रत्यक्ष के अन्दर अप्रत्यक्ष भी है उसे विशेषज्ञ और सूक्ष्म दर्शी जानते हैं। स्थूल दर्शी दो तरह के होते हैं—एक विद्या-बुद्धि में बढ़े लोग दूसरे विद्या-बुद्धि में कम और हीन। अच्छे अच्छे डाक्टर-वैद्य शरीर के भीतर को जानते हैं किन्तु उसके स्थूल अंशों को ही। इसके अतिरिक्त जो अधिक जानने वाले हैं वे जानते हैं कि शरीर के अन्दर स्थूल भाग के अतिरिक्त सूक्ष्म भाग भी है। जो डाक्टरी यंत्र से नहीं जाना जाता। कोई केवल पढ़ सुनकर समझ कर जानते हैं। दूसरे सुन, समझ और प्रत्यक्ष पाकर जानते हैं। उन लोगों के ज्ञानानुसार यह शरीर विचित्र है। विश्व ब्रह्माण्ड में जो सब तत्त्व हैं शरीर में भी वे ही सब हैं। यदि अपने अन्दर सूक्ष्मतल पर कोई जाय तो उसको सूक्ष्म तल पर के सब कुछ वैसे ही मालूम होंगे जैसे स्थूल तल पर रहने से उस तल के सब कुछ मालूम होते हैं। स्थूल तल पर आप दूर तक देखते हैं और विचरण करते हैं उसी प्रकार सूक्ष्म तल पर आरूढ़ हुआ दूर तक देख सकता है और विचरण कर सकता है। स्थूल तल पर रहने से आप को मालूम होता है कि स्थूल शरीर में रहता हूँ और स्थूल संसार में काम करता हूँ। उसी प्रकार आप अपने सूक्ष्म तल पर रहें तो मालूम करेंगे कि सूक्ष्म शरीर में हूँ और सूक्ष्म संसार में विचरण करता हूँ, काम करता हूँ और देखता हूँ। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शरीर में है † और सब देवता भी इस शरीर के अन्दर हैं। आँख में चन्द्र-सूर्य्य का, कान में दशों दिशा का, नाक

† ब्रह्माण्ड लक्षणां सर्वं देह मध्ये व्यवस्थितम्। ज्ञान सं० तंत्र।

में अश्विनी कुमार का, मुँह में अग्नि देव का, जिह्वा में वरुण का, हाथ में इन्द्र का और पैर में उपेन्द्र + यानी विष्णु का वासा है। पुनः मूलाधार चक्र (गुदा चक्र) में गणेश का, स्वाधिष्ठान (लिङ्ग) चक्र में ब्रह्मा का, मणिपूरक (नाभी) चक्र में विष्णु-लक्ष्मी का, अनाहत (हृदय) चक्र में शिव-पार्वती का, विशुद्ध (कण्ठ) चक्र में सरस्वती का, षट चक्र (आज्ञाचक्र) में शिव का वासा है और परम प्रभु परमात्मा भी शरीर में विराजमान है जो अन्दर के सब मायिक स्थानों के परे केवल चेतन आत्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान में आने योग्य है। इस प्रकार का वर्णन सन्तवाणी में पाया जाता है। उपरोक्त वर्णनानुसार परम प्रभु परमात्मा के सहित सब देव अन्दर में है।

देहस्था: सर्व विद्याश्च देहस्था: सर्व देवता: ।
देहस्था: सर्व तीर्थानि गुरु वाक्येन लभ्यते ॥

[ज्ञान संकलिनी तंत्र]

किन्तु इसको वही देखेगा जो अपने अन्दर में प्रवेश करेगा। भीतर जाने का मार्ग जानिये। यह कैसे जाना जायगा? गुरू के उपदेश से। इसलिये गुरू की आवश्यकता है गुरू मुंह से कहेंगे और देखेंगे तो साधना द्वारा आप ही जब गुरू के कहे अनुकूल साधन करेंगे। कोई कहे की ये सब ख्याल ही ख्याल हैं यथार्थ में नहीं; तो कहने वाले कहते हैं तुम अभ्यास करके देख लो। अभ्यास करने पर तुमको मालूम नहीं हो तब झूठा बनाओ। वैज्ञानिक ने कहा हाइड्रोजन और ऑक्सिजन मिलाने से पानी होता है। कोई कहै झूठा है तो दोनों गैसों को मिला कर देखो होता है की नहीं। उसी प्रकार सन्तों की युक्ति के अनुकूल साधन करो अवश्य देखा जायगा। भीतर का काम जो भीतर में होता है वह दिखाया नहीं जा सकता। स्वयं करके देखा जायगा। जो करने का काम है उसे नहीं करते हैं और कहते है नहीं होता है; इस तरह कहना अयोग्य है सन्त वाणी में जैसी युक्ति बताई गई है उस युक्ति से करके देखिये। तब यदि देखने में नहीं आवै तब झूठा कहिये। ❀

—प्रेषक श्री महावीर 'सन्तसेवी'।

+ वामन अवतार में श्री विष्णु देव ने उन्हीं के यहां अवतार लिया जिनके यहां इन्द्र जन्म लिये थे। इन्द्र पहले जन्म लिये थे और ये पीछे, इसलिये ये उपेन्द्र कहलाये।

❀ परम श्रद्धेय स्वामी श्री मेंहीं दास जी महाराज का यह प्रवचन मि० ८।४।५३ ई० को नेपाल राज्य के मोरङ्ग मण्डलान्तर्गत ग्राम भुरूकिया के श्री सन्तमत सत्सङ्ग मन्दिर में हुआ था।
—प्रेषक

किसी वेश में रहो भजन करो।

● श्री महावीर 'सन्तसेवी' ●

अखिल विश्व के समस्त देशों के समक्ष हमारा देश-भारतवर्ष अति प्राचीन-काल से आध्यात्मवाद के लिये प्रसिद्ध होता चला आ रहा है। जिस-प्रकार जलाशय में काल पाकर विभिन्न प्रकार के पद्म उत्फुल्ल होकर अपने सौंदर्य एवं सौरभ से उस सरोवर को शोभायमान एवं सुरभित करते हैं, उसी भाँति इस भारत भूमि पर ऋषि, मुनि, योगी, ज्ञानी, भक्त, सन्तजन एवं अवतारी पुरुष अवतीर्ण होकर अपने पावन पाद पद्मों से इसे पवित्र कर योग, ज्ञान, ध्यान, भक्ति, मुक्ति तथा सच्चरित्रता प्रभृति सीख दे अमरत्व होने का सन्देश देते रहे हैं। किन्तु इन साधुसन्तों की पहचान सर्व साधारण के लिये अति दुर्विज्ञेय है। क्योंकि सभी सन्तों ने लौकिक दृष्टि में बाहर में अपने को एक ही ढंग से नहीं रखा। किसी ने अपने को साधारण सांसारिक जन की नाई गृहस्थाश्रम को अपनाकर तथा उसी में अवस्थित होकर जीवन यापन किया तो किसी ने गृहस्थ जीवन से अपने को सुदूर रखकर। किसी ने अपने को साधु-सन्यासियों के वेष में रखा तो किसी ने अपने को शुद्ध गृहस्थ का बाना पहनाकर। जैसे-भगवान बुद्ध, महायोगी गोरखनाथ जी महाराज तथा श्री मद् शङ्कराचार्य जी महाराज आदि सन्तों ने अपने को सन्यासी के वेष में रखा तो सन्त कबीर साहब, गुरू नानक देव जी तथा तुकाराम जी महाराज प्रभृति सन्तों ने गृहस्थाश्रमी वेष-भूषा में अपना जीवन बिताया। प्राचीन एवं प्रसिद्ध राजर्षि जनक जी गृहस्थाश्रम में स्वर्ग का निर्माण करते हुए विदेह कहलाये। बाबा गुरु नानक देव जी राजसी ठाट में रहते गृहस्थ जीवन यापन करते हुए जीवन्मुक्त दशा प्राप्त किये। इसीलिये तो आज भी 'जनक विदेही नानका' की गूंज घर-घर में व्यापक है। सन्त तुकारामजी महाराज साधारण गृहस्थ परिवार में रहकर परमपद के अधिकारी हुए। इत्यादि इत्यादि सन्तों की ऐसी अनेक जीवन गाथाएँ हैं। एक दिन के सत्सङ्ग प्रवचन कहते हुए स्वामी श्री मेंहीदास जी महाराज ने कहा-'सन्तों में कितने तो गृहस्थ जीवन के राजशाही वेष में रहकर परमात्मा को प्राप्त किया और कितने ऐसे भी हुए जो गृहस्थ जीवन से दूर-सन्यासी वेष में रह कर उसी पद को प्राप्त किया। सन्तों में से किसी ने भी किसी वेष विशेष की प्रधानता नहीं दी है, वहाँ तो दृढ़ ध्यानाभ्यास करने की ही प्रधानता दी गई है। जिसके माध्यम से सभी सन्तजन परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पदाधिकारी हुए। यथार्थ बातें तो यह है कि असंयमित मन के साथ गृहस्थ

अथवा विरक्त किसी भी आश्रम वा किसी भी भेष में रहने से न तो परमात्म-भजन ठीक ठीक होती है और न परमात्मा की प्राप्ति ही। और संयमित मनके साथ गृहस्थ अथवा विरक्त किसी भी आश्रम वा भेष में रहो परमात्मा-भजन ठीक ठीक होगा और परमात्मा की प्राप्ति भी होगी। इसलिये किसी वेष में रहो किन्तु दृढ़ ध्यानाभ्यास करो'।

सन्तों ने किसी खास वेष पर जोर नहीं दिया कि तुम अमुक वेष में ही रहो। बल्कि उन्होंने किसी वेष का पक्षपात करने वाले-किसी एक वेष पर ही जोर देने वालों की भर्त्सना की है। जैसे किसी सम्प्रदाय या मत वाले ने काषाय वस्त्र धारण कर बालों को बढ़ाने पर जोर दिया तो किसी ने काषाय वस्त्र पहन कर मुंडित रहने पर। और किसी ने श्वेताम्बर धारण कर जटा या बाल बढ़ाने पर जोर दिया तो किसी ने दिगम्बर रहकर बाल मुंडाने पर। किसी ने लाल चन्दन पर जोर दिया तो किसी ने श्वेत चन्दन पर और किसी ने भस्म मलने पर जोर लगाया तो किसी ने कण्ठी-माला पहने और फेरने पर आदि। सन्तों ने इन बखेड़ों को मिटाने के लिये कहा—

"मन ना रंगाये रंगाये जोगी कपड़ा।
दढ़िया बढ़ाय जोगी होइ गेलै बकड़ा'॥

मुण्डित रहने पर जोर देने वालों के लिये कहा—

"केसन कहा बिगाड़िया, जो मूंड़ो सौ बार
मन को क्यों नहिं मूड़िये, जा में विषय विकार॥
मूड़ मूड़ाये हरि मिलै; तो सब कोई लेय मुड़ाय।
बार बार के मूड़ते, भेड़ वैकुण्ठ न जाय"॥

तिलक तथा कण्ठी-माला पर जोर देने वालों के लिये कहा—

कबीर माला मनहिं की, और संसारी भेख।
माला फेरे हरि मिलै, तो गले रहट के देख॥
माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुँह माहिँ।
मनुवं तो चहु दिशि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिँ"॥

—कबीर साहब।

"काह भये नर जटा बढ़ाये, का गुदरी के सिये।
कारे भये कंठी के बांधे, काह तिलक के दिये॥"

—सन्त कबीर साहब

गुरु नानक देव जी ने कहा है गुदड़ी पहनने से, दण्ड-कमण्डल रखने से, भस्म लगाने से, शिर मुड़ा लेने से, व्याख्यान की झड़ी लगा देने से, श्मसान में रहने से, देश देशान्तर में भ्रमण करने से और तीर्थ स्नान करने से योग साधन नहीं होता और न परमात्मा की पहचान ही होती है।

"जोगु न खिंथा जोग न डंडै जोग न भस्म चड़ाइऔ।
जोगु न मुंदी मूंड़ि मुड़ाइऔ जोग न सिंञी वाइऔ॥
अंजनु माहि निरंजनि रही ऐ जोग जुगत इव पाइऔ॥
गली जोगु न होई।
एक द्रष्टि करि समसरि जानै योगी कहीऔ सोई॥
जोगु न बाहरी मड़ी मसानी जोग न ताड़ी लाइऔ।
जोगु न देसि दिसंतरी भविऔ जोगु न तीरथि नाइऔ॥

—गुरु नानक देव

भगवान बुद्ध ने कहा—

"न नग्गचरिया न जटा न पंका
नाना सका थण्डिल साथिका वा।
रजो वजल्लं उक्कुटि कप्प धानं
सो धेन्ति मच्चं अवितिण्ण कं खं"॥

गाथा — १४१ धम्मपद।

अर्थात्-जिस पुरुष की आकांक्षायें समाप्त नहीं हो

गई, उस मनुष्य की शुद्धि न नंगे रहने से न जटा से, न पंक (लपेटने) से, न फाका (उपवास) करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल लपेटने से और न उकड़ूं बैठने से होती है। बल्कि उन्होंने ही कहा—

"अलंकतो चेपि समंचरेय्य सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेषु निधाय दण्डं सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू॥
—धम्मपद गाथा–१४२

अर्थात्–अलंकृत रहते भी यदि वह शान्त, दान्त, नियमतत्पर, ब्रह्मचारी तथा सारे प्राणियों के प्रति दण्डत्यागी है तो वही ब्राह्मण है, वही श्रमण (सन्यासी) वही भिक्षु है।

संत दादू दयाल जी के शिष्य श्री रज्जब जी ब्रह्मचारी और बैरागी होते हुए दुलहे के वेश में रहकर अपना जीवन-यापन किया। और संयम एवं साधना के बल पर उस पद को प्राप्त किया जिस पद के अधिकारी अन्य सभी सन्त हुए। इसलिये सन्तों ने किसी एक ही वेश पर विशेष जोर नहीं दिया। बल्कि किसी भी प्रकार के वेश धारण करने की उन्होंने स्वतंत्रता दी और कहा कि तुम किसी भेष में—(बाल बढ़ाकर या मुण्डित रहकर) रहो किन्तु चाहिये—परमात्मा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम।

"प्रेम भाव एक चाहिये, भेष अनेक बनाय।
भावै लम्बे केश रख, भावैं घूंट मुड़ाय॥"
—सन्त कबीर साहब।

सन्त दरबार में कुवेष–सुवेष किसी से भी घृणा नहीं। बल्कि वहाँ तो—

'किये कुवेष साधु सनमानू। जिमि जग जामबन्त हनुमानू'॥
और "लखि सुवेष जग बंचक जेऊ। वेष प्रताप पूजियत तेऊ"
उघरे अन्त न होहिं निबाहू। कालनेमि जिमि रावण राहू॥"
— गो० तुलसी दास जी।

ऐसी बात है। परम संत बाबा देवी साहेब का वचन है—"हिन्दू, मुसलमान, ईसाई कुछ बने रहो, परन्तु दुनियां में दुख सुख भोगते हुए अन्तर में बिना अभ्यास के किये एक दिन भी मत रहो।" आशय यह कि आप किसी भी धर्म के मानने वाले क्यों न हों सच्चे सद्गुरु से परमात्म भजन की युक्ति जानकर नित्य नियमित रूप से अवश्य भजन कीजिये। आप हाफ पेन्ट, कोट-बूट-सूट जाकिट पहने हो या लुंगी अथवा पाजामा पहने हों या धोती ही पहने हों; नियंत्रित मनसे परमात्मा भजन अवश्य कीजिये और जबतक लक्ष्य को प्राप्ति न हो उद्योग में शिथिलता नहीं आने दीजिये। आप जिस अवस्था में हों ऐश्वर्य वान बनकर, अथवा गरीब ही बनकर; परमात्मा की मौज में उनकी कृपा में सन्तुष्ट रहिये और सदाचार समन्वित होकर भजन कीजिये। गरीब-अमीर और गृहस्थ विरक्त की कोई बात नहीं है; सभी परमात्म भजन के समान अधिकारी है

"राज महि राजा योग माही योगी।
तप में तपीसुर गृहस्थ माहिं भोगी।
—गुरु नानक देव

भगवत भजन में ऊँच-नीच जाति के अनुकूल अधिकार वा अनधिकार नहीं है। वहाँ तो 'जाति पाँति बूझे नहीं कोई; हरी को भजै सो हरी का होई।' सन्तों का यही मत है। इसलिए धनी-निर्धन, सुजाति-कुजाति, गृहस्थ-विरक्त कोई भी हों और किसी भी वेष में हों परमात्म-भजन कीजिये।

स्थापित १९६१

प्रशंसक से सावधान

● प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए० ●

तुम्हारी प्रशंसा कर अपना काम निकाल ले जाने वालों की कमी नहीं है। स्वयं तुम भी उनसे अपनी तारीफ सुन कर मद मस्त हो जाते हो, प्रसन्नता में फूल उठते हो, नीर–चीर विवेक विलुप्त कर बैठते हो। प्रशंसक को गले लगाते हो, किन्तु तुम यह विस्मृत कर बैठते हो कि तनिक सी प्रशंसा में बह जाना तुम्हारी एक मानसिक निर्बलता है।

आज के युग में लोग दो ही इच्छाओं की पूर्ति के हेतु एड़ी चोटी का पसीना एक करते हुए प्रतीत होते हैं—प्रथम रुपया दूसरी प्रशंसा। बड़े बड़े नेता, त्यागी, महात्मा, विद्वान, वक्ता, लेखक, दानी, दार्शनिक जिसे भी देखिये वह प्रशंसा या सम्मान चाहता है। सम्मान प्राप्ति के लिए वह जैसा कहो, वही कर डालने को तैयार रहता है। विद्वान चाहे आर्थिक सम्पन्नता की कामना न करे, किन्तु भूखे पेट रह तथा फटे वस्त्र पहिन कर भी वह अपनी प्रशंसा अवश्य चाहता है। वह चाहे और सब छोड़ दे, प्रशंसा की भूख को नहीं छोड़ पाता।

प्रशंसा सुन कर हमारा "अंह" तृप्त होता है। हम मद-मस्त हो उठते हैं और अन्दर ही अन्दर अपनी महत्ता का अनुभव करते हैं। अंह-तृप्ति से मनुष्य अपनी निर्बलताओं को आँखों से ओझल करने का विफल प्रयत्न करता है। दूसरे द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर भले ही आप अपनी दुर्बलताओं के प्रति वीतराग हो जांय, अपने आप को लाख अच्छा समझें, किन्तु निर्बलताएँ तो ज्यों की त्यों रहेंगी ही। प्रशंसा से आप थोड़ी देर कल्पना के सुखद जगत में विचरण कर लें किन्तु संसार और समाज की कटुता और कठोरता से आप आँखें नहीं मूँद सकते।

आप निरन्तर मिलते जुलते अपने प्रशंसकों की संख्या बढ़ाने में व्यस्त हैं। भिन्न भिन्न अवसरों पर आप उन्हें प्रजेन्ट भेजते हैं, दावतें करते हैं, मुबारिकबाद देकर प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु आप को यह ज्ञात नहीं की प्रशंसा की भित्ति कमजोर बालू पर खड़ी होती है। अवसर अटकने पर सब छोड़ भागते हैं। जब तक आप प्रतिष्ठित पद पर आसीन हैं, दूसरों के आप से दस छोटे बड़े कार्य सम्पन्न होते हैं, रुपया पैसा आपके पास है, तब ही तक प्रशंसक आप के साथ हैं।

प्रशंसा मनुष्य की कार्य शक्तियों को पंगु कर उसे छोटी सी प्राप्ति में तुष्टि दे देती है। वह सस्ती प्रसिद्धि से सन्तुष्ट होकर मजबूती से आगे नहीं बढ़ता। जो जितना कमजोर और उथला होता है वह उतनी ही आसानी से प्रशंसा से विजित हो जाता है। प्रशंसा एक प्रकार का झूठा आवरण है।

प्रशंसा एक झूठा माया जाल है। इसमें फंस

कर मनुष्य अपना सही रूप नहीं देख पाता। यह वह शीशा है, जिसमें मनुष्य को अपने सा बड़ा प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। वह अपने विषय में बड़े ऊँचे मंसूबे बाँधता है, अपने को बड़ा अमीर, बुद्धिमान, विवेकवान, या सुन्दर समझता है जब कि असली बात उलटी ही होती है। प्रशंसा से सबसे बड़ी हानि वास्तविकता से दूर हट जाना, अपनी असलियत, कमजोरियाँ, या दुर्बलताओं को भूल जाना है।

आध्यात्म जगत में प्रशंसा, मान, आदर की भूख एक प्रकार का मद है। प्रशंसा करने वाले को प्रेम करना, तथा निंदा करने या आलोचना करने वाले को घृणा या तिरस्कार करना—ये दोनों ही विवेक की सीमा के अतिक्रमण हैं। वास्तविकता इनके मध्यम में स्थित है। हमें उचित तो यह है कि प्रशंसा और निंदा में अपना मानसिक संतुलन (Mental balance) बनाये रखें और अपने जीवन को समुन्नत करने उन्नत बनाने वाले सुझावों को ग्रहण कर लें, चाहे वे प्रशंसक से आयें अथवा आलोचक से प्राप्त हों।

आध्यात्मिक व्यक्ति प्रशंसा में न फूलता है, न निंदा में निराश होकर आत्म हत्या करता है। वह अपनी इस कमजोरी से दूसरों को अनुचित लाभ नहीं उठाने देता। वह अच्छी तरह जानता है कि उथले, ओछे व्यक्ति ही प्रशंसकों से घिरे रहते हैं; ऐसे व्यकित ही हानि पहुंचाते हैं। कुछ व्यक्ति प्रशंसा में इतने घिर जाते हैं कि भविष्य में उन्नति नहीं करते। आध्यात्मिक व्यक्ति निरन्तर आगे बढ़ता है। सस्ती प्रसिद्धि से उसे घृणा होती है। वह जो क्षेत्र चुनता है, उसी में अपनी समस्त विद्या बुद्धि लगाता चलता है चाहे उसे प्रशंसा की मिठाई प्राप्त न हो। वह प्रशंसा से ऊँचा रहता है। उसकी प्रेरणा बाह्य थोथे व्यक्तियों में न होकर अन्तर में होती है। वह अपनी आत्म तुष्टि के हेतु कार्य में सलग्न होता है। गोस्वामी तुलसी दास, भक्त कवि सूर, राजरानी मीरा, गुरु नानक, सन्त कबीर, दादू को कभी यह चिन्ता नहीं रही कि कोई उनकी प्रशंसा करता भी है अथवा नहीं, कोई उनकी रचनाएँ पढ़ता है या तिरस्कार करता है। वे तो निरन्तर अन्तर्प्रेरणा से शान्ति पूर्वक सधैर्य साहित्य साधना करते रहे। हम ऐसे व्यक्तियों को आध्यात्मिक व्यक्ति कहेंगे, जिन्हें न प्रशंसा की भूख है, न निंदा से निराश होने की कायरता। प्रशंसा के अभाव में वे कभी विचलित नहीं हुए। मीरा उनके निंदाओं के बावजूद दृढ़ता से भक्ति और काव्य जगत् में में आगे बढ़ती रहीं। ●

अमूल्य उपदेश

सबेरे उठते ही सोच लिया करो कि परमात्मा तुम्हारे साथ है। रात को सोने से पहिले भी यही सोच लिया करो। कभी कभी थोड़ा विह्वल हो कर यह भी सोच लिया करो कि वह सदा साथ रहता हुआ भी छिपा छिपा निष्क्रिय सा क्यों बना रहता है! कुछ ही दिनों की साधना से तुम्हारे स्वभाव में चमत्कारिक परिवर्तन हो जायगा।

गुणग्राही बनिये

श्री अगरचन्द्र जी नाहटा, बीकानेर

(गतांक का शेषांश)

इस दुषम काल में जिसमें थोड़ा भी गुणधर्म देखने में आवे, उसका बहुमान धर्मबुद्धि से करना सदा युक्त हैं। इससे खुद को अनेक लाभ होने सम्भव हैं। स्व-संप्रदाय में या पर-संप्रदाय में जो सच्चा गुणी हो उनका गुणानुराग करने में तू मत्सरभावना व दृष्टिराग न रखना। समभावी महान पुरुषों का समागम महान् दुर्लभ है, उससे लाभ उठाओ।

जो गुण रत्नों से अलंकृत पुरुषों का बहुमान निष्कपट मन से करता है वह उनके जैसे गुणों को प्राप्त कर सुखी होता है। सद्गुणों के प्रति आकर्षण और गुणीजनों का आदर करना ही गुणी बनने का अमोघ उपाय है।

किसी दूसरे कवि ने भी क्या ही अच्छा कहा है:—

"गुण ग्राही बनिये सदा, लागत कुछ नहीं मोल।
अवगुण जावे आपका, पावे सुख अनतोल।
पावे सुख अनतोल, जगत में लोग सरा है।
पर-भव सुर अवतार, अन्त में शिव पद पावै।
कहत कवि कर जोर, ज्ञान की बातें सुनिये।
लागत कुछ नहिं मोल, गुणों के ग्राहक बनिये।"

महापुरुषों ने कहा है कि दोष देखना है तो अपना देखो, जिससे उनका भान हो और दूर करने का प्रयत्न किया जा सके। दूसरों के तो गुण ही देखिये। यदि कोई दोष सहज नजर आता है तो हितबुद्धि से एकान्त में उन्हें समझाइये जिससे वह दोषों को सुधार ले। यदि आप किसी के दोष उसे न कह कर बाहर ढिंढोरा पिटते हैं तो इससे उसके दोष सुधरने के नहीं, उल्टा उसका आपके प्रति दुर्भाव होगा। इससे आपके कहने का प्रभाव उसें पर नहीं पड़ेगा। वह आपसे वैर भाव धारण किये रहेगा। आपका छिद्रान्वेषण कर, जैसे आपने उसके दोषों को जाहिर किया है, वैसे ही वह भी आपके दोषों को विशेषरूप से प्रचारित करने का प्रयत्न करेगा। दूसरों के दोषों से हमारा कोई नुकशान होने वाला नहीं। हमारा नुकशान तो अपने ही दोषों से होता है। सज्जन पुरुषों का लक्षण यहीं माना गया है कि वह दूसरों के मेरु सदृश दुर्गुणों को सरसव सदृश मानकर उपेक्षा करें और अपने सरसव सदृश दोष को भी मेरु सदृश मानते हुए उसे जल्दी से जल्दी दूर करने की कोशिश करे। अन्तर्निरीक्षण करने पर महा-पुरुषों के हृदय से भी यही वाक्य निकलते हैं कि—

"बुरा बुरा सबको कहे, बुरा न दीसै कोय।
जो घट खोजूँ आपणों, मुझसा बुरा न कोय।।"

"निन्दा करो लो कर लो आपणी रे,
जिम छूटत वारो थाय।
निन्दा न कीजों कोईनी पर की रे,

निन्दा ना बोल्या बहुला पाप रे।।
वैर विरोध वधे घणोरे, —थाये परम संताप रे।
निन्दा करतां न गणे मांय ने बाप रे।
निन्दा न कीजै कोईनी परकी रे।।

—कवि श्याम सुन्दर जी

सुभाषित ग्रन्थों में भी गुणो के महत्व के संबंध में कई अच्छे श्लोक मिलते हैं; यहाँ उनमें से कतिपय श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं:—

गुणैरेव महत्वं स्यान्नंगिन वयसाऽपि ना।
दलेषु केतकीनांहि लघीन्यस्सु सुगन्धता: ।।

अर्थात् मोटे शरीर या बड़ी उम्र से ही मनुष्य महत्व को प्राप्त नहीं होता। महत्व तो गुणों से मिलता है। केतकी के पत्ते बहुत छोटे छोटे हैं फिर भी सुगन्धि के कारण दूसरें को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उसी तरह जहां गुण होंगे, लोग खींचे हुए आवेंगे। उसके लिए ढिंढोरा पीटने की व किसी को बुलाने की आवश्यकता नहीं उसके गुणों से दूसरों के हृदयों में आदर व श्रद्धा स्वयं जग उठेगी। नीच कुल में जन्म लेकर भी जो गुणों में आगे बढ़ जाता है वह अपने आप प्रशं-सा का पात्र बन जाता है। पञ्च तन्त्र में कहा है कि—

कोशेयंकृपिजं सुवर्णभूपलाद् दूर्वारपि गोजोमत:;
पंकातामर सं--शशांक उदधेरीन्तरं गोमयात्।
काष्ठादग्निरहे: कणादपि मणिगोपतितेतो रोचना।
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना।।

अर्थात् रेशम कृमियों से उत्पन्न होता है। स्वर्ण मिट्टी से, कीचड़ में से कमल, समुद्र में से मंद्रा, लकड़ी में से अग्नि, सर्प के फणी में से मणि, गाय के पित्त में से गोरोचन उत्पन्न होता है इनका उत्पत्ति स्थान अच्छा न होने पर भी अपने गुणों के कारण वे प्रसिद्ध व आदर पाते हैं।

"गुणेषु क्रियतां यत्न: क्मिाटोपै: प्रयोजनम्।
विक्रीय ंते व घंटामिर्गाव: क्षीरविवर्जिता".

अर्थात् गुण में ही यत्न करिये। आडम्बर में क्या धरा है? दूध बिना की गाय के गले में सुन्दर घंटा बांधने पर उसको कोई नहीं खरीदता, क्योंकि उसकी मूल्य तो दूध पर ही निर्भर है। इसी प्रकार बाहरी दिखावट, टोपटाप और वाचालता से मनुष्य आदर नहीं पा जाता, यदि उसमें गुण न हों।

गुणैरुतमताम् पाति नोच्चेहासन संस्थित:,
प्रासादशिखरस्थोरपि काक: किं गरुडायते।

अर्थात् उच्चासन पर बैठने पर ही मनुष्य गौरव के अधिकारी नहीं हो सकता है गौरव तो गुणों से ही मिलता है कौवा यदि प्रासाद के शिखर पर भी बैठजाय तो वह गरुड़ की शोभा नहीं प्राप्त कर सकता।

सर्वत्र निंदासंत्यागो वर्णयादस्तु साधुषु,
आपद दैन्यमत्यंतं तद्वत् संपदि नम्रता।
कस्यापि चाग्रतो नैव प्रकाश्य स्वगुण:।
स्वयं, अतुच्छत्वेन तुच्छोरपि, वाच्य: परगुण: पुन:।

अर्थात् किसी की निंदा न करिये। सज्जनों की प्रशं-सा करें, आपत्ति में दीन न बन कर धैर्य रखिये और सम्पत्ति में नम्रता। किसी के सन्मुख अपने गुणों का बयान स्वमुख से न करिये। और दूसरे के छोटे से गुण को भी मान कर अपनाइये। यही अन्तिम अनुरोध है। ●

शाश्वत जीवन का अधिकारी

● श्री राम लाल पहाड़ा ●

यह द्वन्द्वमय संसार भ्रमात्मक है। इन्द्रियों और बाह्य पदार्थों पर लौकिक सुख अवलंबित है। यदि इन्द्रियां रुग्ण हैं, तो पदार्थों से सुख पाना असंभव है। यदि पदार्थों का अभाव है तो मन मारकर रह जाना पड़ता है। यह सब शरीरस्थ ज्ञान तन्तु प्रणाली का चमत्कार है। इन्द्रियों के गोलकों में आकर काम करने वाली रेखाएं विकृत, जीर्ण-शीर्ण होकर शिथिल या विदपभोगी हो जावें तो उनके द्वारा सुख मिलना कठिन हो जाता है। आँख में मोंतिया-बिन्दु कांचबिन्दु या अन्य विकार होने से रूपग्रहण का सुख होना कठिन है। नाक में पीनस रोग हो तो गंध पाना; कान में शूल हो तो मधुर राग का आनन्द लेना; अंड कोष में पीड़ा हो या पथरी रोग हो या गोशा उतर गया हो तो संभोग सुख पाना; कठिन है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जनित सुख इन तन्तुओं के स्वास्थ्य पर अवलंबित है। इन ज्ञान तन्तुओं के विकास होते ही मनुष्य दुःख में पड़ता है। चाहे उस मनुष्य के पास कितना ही द्रव्य हो और कितने ही घर, क्षेत्र, बाग बगीचे हों। वे उसके लिए सुख कर नहीं हो सकते। इन्द्रियां भ्रम में डालती है। उनमें कुछ उत्तेजना होती है, खुजान छूटती है। उस उत्तेजना को शांति कर लेने को अविवेकी को पुरुष सुख मान लेते हैं। इन्द्रियां कुछ समय को शांत हो जाती और पुनः उत्ते-जित होकर पदार्थ पाने को तरसती है। मनुष्य स्पर्धा में पड़ पदार्थों के बटोरने में अपना जीवन व्यतीत कर देता है किन्तु शाश्वत सुख नहीं पाता। बड़ों के साथ अपनी तुलना करने से दुःख होता है। यदि किसी को केवल ५०) रु० माहवार मिलता है और वह अपनी तुलना ७०-८० पाने वाले से करता है तो वह दुःखित होता है। इसलिए अपने से कम पाने वाले पर दृष्टि डालकर मनुष्य अपने भाग्य के लिये पर-मात्मा को धन्यवाद दे और संतोष माने तो सुखी हो सकता है। तृष्णा का कभी अन्त नहीं होता। लौकिक कांक्षाएं व्यर्थ होती है। क्षुब्ध मन को संतोष ही शांत कर सकता है। इसलिए आध्यात्मिक साधन का आरम्भ कर शाश्वत सुख पाने का लक्ष्य रखना चाहिये। जीवन सुखी बनाने के लिए इच्छा लाभ से संतोष मानो; सत्य भाषण करो; अहिंसा व्रत रखो; ईश्वर का ध्यान रखो; प्रेम पूर्वक यथा शक्ति लोक सेवा करते रहो; ब्रह्मचर्य पालन करो और सब में सर्वत्र अमर सच्चिदान्द परमात्मा का निवास समझो। सच्चा सुख और शाश्वत भी पाने का यही उत्तम उपाय है। इन्द्रियों को वश में रख

कर गुरुजनों की सेवा करना; क्षमा पूर्वक जप कीर्त्तन और सत्सङ्गति करना, यथाशक्ति दीन दुःखियों को दान देना, स्वाध्याय करते रहना, अनेक में एक परमात्मा को समझ कर सबसे प्रेम पूर्वक स्पष्ट व्यवहार करना और सब कर्मों का ईश्वरार्पन कर देना ही शाश्वत जीवन पाना है। अन्य जनों के कार्यों में कदापि हस्तक्षेप मत करो, सदा अपने ही कर्त्तव्य का ध्यान रखो। बाहरी पदार्थों में सुख नहीं है। विचार बदलते रहते हैं और तदनुसार पदार्थों के गुण दोष हो जाते हैं। मन भर जाने पर वही पदार्थ नीरस हो जाता है। भूख में सूखा टुकड़ा भी स्वादिष्ट लगता है, पर अरुचि या विकार होने पर मोहन भोग भी हेय हो जाता है। मन इन्द्रियों के संयोग में एक वस्तु से उकता कर (अघा कर) अन्य वस्तु की खोज में लगा रहता है। इस तरह भटकता रहता पर न सुख पाता और न कहीं स्थिर होता। यथार्थ शाश्वत सुख अपने आप में, अन्तरमुख वृत्ति में हैं। संसार से मुंह तोड़कर एकाग्रचित से वृत्ति को अन्तर मुख कर शाश्वत सुख का अनुभव लो। यदि मनुष्य प्रमादों से हतोत्साह न होकर धैर्य पूर्वक अभ्यास में लगा रहे तो उसको मनकी स्थिरता और समाहित चित की प्राप्ति होती है। क्षोभ से दुर्बलता आती है और सामहित चित से बल बढ़ता है बलवान ही आत्मानुभव कर सकता है। यदि विवेक, श्रद्धा, आत्मसंयम, स्वार्थ त्याग नहीं है तो बन में जाकर रहने से, या साधु बन जाने से भी कुछ लाभ न होगा। जब तक मनमें चिन्ता, संताप, तृष्णा, लोभ, क्रोध आदि रहते हैं तब, तक सर्वत्र दुःख लगे ही रहते हैं चाहे मनुष्य संसार की सम्पत्ति का पूरा अधिकारी क्यों न हो? अज्ञानी और अविवेकी जीवों को प्रतिदिन सहस्त्रों दुःख और भय होते रहते हैं। विवेकी और आत्मज्ञानी सच्चा सुख और शांति पाता है। अतः माया पर विजय पाकर ध्यान करो और ईश्वर कृपा द्वारा आत्मानन्द पाने का सतत प्रयत्न करते रहो। संसार की तृष्णा से रिक्त होने पर मन संकीर्त्तन में लगता है। नाम संकीर्त्तन से चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि से मन में नम्रता आती और अभिमान दूर हटता है। निरभिमानी मनुष्य सदाचार रख लोक सेवा करता है। सदाचारी मनुष्य ईश्वर का डर रख धर्म साधन में लगा रहता है। आत्मानुभव करना, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमात्मा को सर्व व्यापक जान लेना ही परम धर्म साधन है।

मनुष्य नाम और रूप को देखकर अज्ञान वश द्वैत भावना द्वारा भिन्नता की कल्पना करता है और दुःख भोगता है। द्वैत भावना से मन में राग द्वेषादि विकार उत्पन्न होते रहते हैं। नाम रूप के परे अद्वैत ब्रह्म है। वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। श्रद्धा और विश्वास से प्रयत्न करने पर मनुष्य इस हृदयस्थ अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। "ब्रह्मविद ब्रह्मैवभवति" ब्रह्मज्ञानी "ब्रह्म होकर" निर्द्वन्द्व, नित्य-सत्वस्थ, निर्योगक्षम और आत्मवान बन जाता है।

मुमुक्षु जन इन्द्रि वा विषयों को विष तुल्य जान कर छोड़ देता है और संतोष दया, क्षमा, पवित्रता आदि गुणों को अमृत मान कर धारण करता है। सदाचार का मुख्य नियम अस्तेय है। दूसरों के

अधिकार पर अनुचित आक्रमण न करना ही अस्तेय का शुद्ध रूप है। दूसरों की वस्तु को बिना पूछे चुपचाप ले जाना ही साधारण लोग चोरी करना मानते हैं। इसका विचार किया जाय तो मनुष्य अचेत रहकर नाना प्रकार से चोरी करता है।

इष्टान्भो गान्हि वो देवा दास्यं ते यज्ञ भावितः।
तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुक्ते स्तेन एव सः ॥
—गीता।

यज्ञ भावित होकर; परिश्रम की पूरी दक्षिणा (योग्यतानुसार पूरा भाग) पाकर देव, (परिश्रम कर वस्तु प्राप्ति में सहायक होने वाले) तुम्हारे इष्ट भोगों को देंगे। उनको उचित भाग न देकर जो मनुष्य उनकी दी हुई वस्तुओं का उपभोग करता है वह चोर (दंड पाने योग्य) है। इस प्रकार अततायी, अत्याचारी, अनेक पूंजीपति, रिश्वत देने लेने वाले, अनुचित मुनाफा पाने को, मंहगा बेचने वाले लोग भगवान की दृष्टि में चोर हैं। यह स्तेय वृति अधिकांश जनता में समा गयी है। सदाचार और आध्यत्मिक दृष्टि में आवश्यकता से अधिक वस्तु रखना, लेना, खाना या लेकर नष्ट करना, चोरी है क्योंकि इस कर्म से अन्य जनों के भाग में न्यूनता हो जाती है। वस्तुओं की मांग के अनुसार मूल्य बढ़ जाता है। प्रायः पंक्तियों में (भोज में) अनेक जनों को जूठन छोड़ने की गंदी टेव पड़ी है। वे तर्क करते हैं कि इससे भंगियों को; हरिजनों को कुछ भाग मिल जाता है। यह उनकी भ्रष्ट बुद्धि का तर्क है। अन्य जनों को जूठन खिलाना महापाप है। धन, अन्न, वस्त्र आदि दैनिक उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करना और भाव की प्रतिक्षा में सड़ा डालना निंद्य कर्म है। अपनी शान रखने का क्षणिक प्रदर्शनार्थ अतिशय खर्च करना; एक पैसे के काम में एक आना खर्च करना समाज में अचेत रहकर चोरी करना है। नकली खिलौने बनाकर बालकों को लुभाना और बेंचना लूट का रूप ही है। धूम्रपान, साइकल खेल, हाकी मेच आदि विनोद में शाला के लड़के अतिशय खर्च किया करते हैं और सदाचारी होने का गर्व करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि में ये सब चोर हैं। आजकल परस्पर एक दूसरे का वस्तु उड़ा देना शालाओं में साधारण मनोरंजन माना जाता है। प्रौढ़ विद्यार्थी यात्रा के बहाने बिना टिकट लिए रेलगाड़ी का सहारा ले लेते हैं और गर्व से अपने चतुराई का वर्णन करते हैं। यह सब चोरों के काम हैं। रिश्वत देकर शक्कर, गेहूँ आदि का "परमिट" लेना और ब्लैक मार्केट (काले बाजार में) मुनाफा लेना धूर्तों का प्रतिदिन का काम है। वे सब चोरी का काम करते हैं।

खोटा सिक्का या नोट चला देना और धांधली मचाकर अधिक पैसे मार लाना बहुत ही साधारण काम हो गया है। दूसरों की दृष्टि बचाकर या छिपकर कुछ भी काम करना स्तेय है। ईश्वर का भय रखने वाला सदाचारी मनुष्य ऐसे कर्मों से दूर रहने का सतत प्रयत्न करता है। स्वार्थ और लोभ ही मनुष्य में स्तेय वृत्ति उत्पन्न कर देते हैं। इन्द्रियां विषयों की ओर दौड़कर कामनाएं उत्पन्न करती हैं। मनुष्य पदार्थों को पाने को तरसता है। सामर्थ्य न रहने पर चोरी से प्राप्त करना चाहता है। इन्द्रियों को स्वेच्छा

Satya ... Shastri
WILL BE ... JOURNAL

करने देना, कामनाओं का बढ़ाना ही स्तेय वृत्ति मूल कारण है। कामनाओं की वृद्धि से सदाचार और विवेक नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। आध्यात्मिक साधन में सचेत रहकर कामनाओं को छोड़ने और आवश्यकताओं को कम करने से सफलता हो सकती है मुमुक्षु अभिमान छोड़कर अपने अन्तर्मन में साक्षीत्व, अकर्तत्व और अभोक्तृत्व की भावना को दृढ़ करने का प्रयत्न करता है। वह त्रिगुणातीत और विवेक शील होकर संसार यात्रा पूरी करता है। वह संसार को कल्पित मानकर "सच्चिदानंद" परमात्मा के ध्यान में मग्न रहता है। वह हृदय मन को ईश्वर चिन्तन में; हाथों को दीन, निहसहायों की सहायता और दान में, पावों को गुरूजनो की सेवा में लगा देता है। इससे उसका भेदभाव जनित अज्ञान दूर होता है। आचारण के दोषों की संख्या घट जाती है। वह क्षुद्र स्वार्थ का दमन कर उदारता में प्रवेश करता और संसार में अन्यजनों को अंधेरे से निकाल कर प्रकाश में लाता है। जप कीर्तन और ध्यान से बल पाकर वह संसार की सब समस्याओं को हल कर लेता है। ईश्वर उसको सब कामों में सहायता देता है। वह स्वयं सुखी रहता और संसार को सुखी करता है। यहीं उसका जीवन शाश्वत हो जाता है। जब साधक भजन, कीर्तन या प्रार्थना में बैठता तब वह मनही मन भावना करता है कि वह परमात्मा में विश्राम पा रहा है। परमात्मा ऊपर नीचे, दायें बायें सब ओर से उसकी रक्षा कर रहा है। हृदय में प्रकाश फैल रहा है। सब भूत मात्र एकत्रित होकर विचरन कर रहे हैं। नामरूप जगत भी ब्रह्म में समा रहा है। माया विभीषीका का अन्त हो गया है। अब अद्वैत, अखंड एक रस "सच्चिदानंद ही ओत प्रोत है। इस भावना को लेकर संसार के कामों में भी उसे अद्भुत आनन्द आता है। उसके शरीर से आनन्द रस का प्रवाह निकलकर परिजनों को भी प्रसन्नकर देता है। (यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नो द्विजते चयः हर्षा मर्ष भयो द्वेगैर्मुक्तो यः सच मे प्रियः) न वह व्यथित होता और न लोगों को बाधा पहुंचाता है। हर्ष, शोक, भय ,उद्वेग से मुक्त रहकर सबको (ईश्वर को) प्रिय हो जाता है। संसार में शाश्वत शांति रखने का शाश्वत जीवन पाने का यही सनातन नियम (धर्म) है।

अमूल्य उपदेश

जो बात कठिन जान पड़ती है आदत उसे ही एकदम सहज बना देती है। ऐसे भी लोग देखे गये हैं जो अपनी आदत के कारण जहरीली चीजें रोज हजम कर जाया करते हैं। ऐसे भी लोग हैं जिन्हें बरसों जागते ही रहने की आदत पड़ गई है। तब जो बातें हमारी उन्नति की सहायक हैं, हमारे कल्याण और सच्ची सुखशान्ति की सहायक हैं, उनकी आदत डालकर उन्हें सहज सुगम क्यों न बना लिया जाय ? आदत पड़ते ही हमें उनमें मजा आने लगेगा। सफल और आनन्दमय जीवन की यही सबसे बड़ी कुंजी है।●